

तुलसी प्रज्ञा

TULSI PRAJÑĀ

Jain Vishva Bharati Institute Research Journal

अनुसंधान-त्रैमासिकी

पूर्णाङ्क-१०४

संपादक
परमेश्वर सोलंकी



भाग-२३, अंक-४ : जनवरी-मार्च, १९९८ ई०

जैन विश्वभारती संस्थान [मान्य विश्वविद्यालय], लाडनू-३४१३०६
Jain Vishva-Bharati Institute, Ladnun-341306,

तुलसी प्रज्ञा : अनुसंधान त्रैमासिकी
Tulsi Prajñā — Research Quarterly
पूर्णाङ्क-१०४

संरक्षक

प्रो० भोपालचन्द लोढ़ा
कुलपति

सम्पादक-मंडल

प्रो० दयानन्द भार्गव

प्रो० टी. एम. दक

डॉ० बच्चरराज दूगड़

डॉ० जगत्‌राम षट्टाचार्य

डॉ० जे. पी. एन. मिश्रा

सम्पादक

परमेश्वर सोलंकी



जैन विश्व-भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूँ ३४१ ३०६ (राज०) भारत

Jain Vishva-Bharati Institute Research Journal

Vol. XXIII

Jan.-March, 1998

No. 4

Editor

PARAMESHWAR SOLANKI

Articles for Publication must accompany with notes and reference, separate from the main body.

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers. It is not necessary that the INSTITUTE agree with them.

Editorial enquiries may be addressed to : The Editor, Tulsī Prajñā, JVBI Research Journal, Ladnun-341 306 (INDIA).

© Copyright of Articles, etc published in this journal is reserved.

Annual Subs. Rs. 60/- Rs. 20/- Life Membership Rs. 600/-

Published by Dr. Parmeshwar Solanki for Jain Vishva-bharati Institute Deemed University, Ladnun-341 306 and printed by him at Jain Vishva-bharati Press, Ladnun—341 306. Published on 30.6.98

शलाका-परीक्षा का आयोजन

जैन विश्व भारती संस्थान में जैन विद्या के प्रौढ़ पाण्डित्य की परंपरा को पल्लवित-पुष्पित करने के लिए विविध उपक्रम चल रहे हैं। उनमें एक उपक्रम है—स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त पांच समणियों द्वारा जैन विद्या संबंधी प्रौढ़ ग्रन्थों का अनुशीलन।

पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी ने अपने जीवन के अंतिम चरण में एक पंचवर्षीय योजना तैयार की थी। उसकी क्रियान्विति के अन्तर्गत विगत वर्ष में आचार्य हेमचन्द्र की कृति—**प्रमाण-मीमांसा** का अनुशीलन किया गया। इस गहन अध्ययन का परीक्षण गत ९ जून को हुआ। परीक्षण के लिए प्राचीन भारतीय पद्धति से शलाका-परीक्षा लेने की प्रविधि अपनाई गई और यह परीक्षा स्वयं आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने ली।

शलाका-परीक्षा में परीक्षक, परीक्षा ग्रन्थ के किसी भी अंश की व्याख्या किसी भी परीक्षार्थी से पूछ सकता है। परीक्षार्थी को पूछे गए अंश की संदर्भ सहित व्याख्या तत्काल मौखिक रूप से करनी होती है। अंग्रेजों के आने के पूर्व तक इसी पद्धति से परीक्षार्थी के ज्ञान की परीक्षा होती थी जो परीक्षार्थी के सांगोपांग अध्ययन की परिचायक है। इस विलुप्त परम्परा को पुनर्जीवित होते हुए देखने का दुर्लभ अवसर इस आयोजन में उपलब्ध हुआ।

जैन विश्व भारती के प्रज्ञालोक-सभागार में उपस्थित विद्वत् समाज एवं चतुर्विध संघ के सामने आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने पांचों समणियों से, पूर्व में बिना बताए, किसी एक परीक्षार्थी को संबोधित करके 'प्रमाण-मीमांसा' को एक पंक्ति का पूर्वांश बोला और उसमें अन्तर्निहित शंका-समाधान की जानकारी ली। तदुपरांत उस पंक्ति के संबंध में गहन प्रश्न और वितर्क उपस्थित किए।

क्रमशः पांचों समणियों ने अपनी-अपनी पर्येषणा-परीक्षा, धर्मसंघ की मर्यादाओं का पालन करते हुए परन्तु उन्मुक्त भाव से तर्क-वितर्क में भाग लेकर दी और अपने मन्तव्यों का विस्पष्ट प्रकटीकरण करके उपस्थित विद्वत् समाज को चमत्कृत कर दिया। आचार्यश्री द्वारा बारम्बार किए गए गूढ़ वितर्कों से परीक्षार्थी अप्रभावित रहे और अपने-अपने स्पष्टीकरण को खुलासा करते रहे।

शलाका-परीक्षा के उपरांत आचार्य श्री ने स्वयं माना और सार्वजनिक तौर पर विज्ञप्त किया कि पर्याप्त श्रम किया गया है किन्तु यह उपक्रम अजस्र और अविच्छिन्न रहना चाहिए। उन्होंने 'प्रमाण-मीमांसा' के बाद 'प्रमाणनय तत्त्वालोका' और उसकी टीका—'रत्नाकारावतारिका' पर अध्ययन-शोध का सुभाव दिया।

आचार्य श्री ने प्रकट किया कि जैन शासन की अद्भूत प्रभावना है जिसे क्रमशः प्रवचन, धर्मकथा, वाद, निमित्त, तप, विद्या, सिद्धि, कवित्व इत्यादि अनेक रूपों में आचार्य उमास्वाति, सिद्धसेन दिवाकर, जिनभद्रगणि, आर्य रक्षित, पादलिप्तसूरि, हरिभद्रसूरि, मल्लवादी, सिद्धाषि, अभयदेवसूरि, बप्पभट्ट, मानतुंग और हेमचंद्र, वादिदेव, यशोविजय आदि ने निरन्तर प्रभावमय बनाए रखा है। उनके श्रम को चिरस्थायी बनाये रखने का सतत उद्योग होते रहना चाहिए।

जैन विश्व भारती संस्थान का यह उपक्रम बहुत उपयोगी व श्रेयस्कर होगा और जैन विद्या में पाण्डित्य को प्रबुद्ध करेगा—इसमें कोई वैमस्य नहीं हो सकता। किंतु इस उपक्रम को विश्वविद्यालयीय अध्ययन-शोध प्रवृत्ति से विधिवत जोड़ा जाना चाहिए और इससे परीक्षार्थी निरन्तर लाभान्वित होते रहें—ऐसा व्यवस्था होनी चाहिए।

—परमेश्वर सोलंकी

अनुक्रमणिका/Contents

१. संपादकीय परमेश्वर सोलंकी	
२. निक्षेप-भाषा और विचार की वैज्ञानिक पद्धति साठवी विमलप्रज्ञा	३७९—३८४
३. भारतीय लोक जीवन का मांगलिक प्रतीक—थापा ए. एल. श्रीवास्तव	३८५—३९६
४. शरीर में अतीन्द्रिय ज्ञान के स्थान समणी मंगलप्रज्ञा	३९७—४०२
५. धारणा : एक संक्षिप्त विमर्श साठवी श्रुतयशा	४०३—४१२
६. जैनों की सैद्धांतिक धारणाओं में क्रम परिवर्तन नंबलाल जैन	४१३—४१८
७. जैन आगमों में ज्योतिष : एक पर्यालोचन मुनि श्रीचंद 'कमल'	४१९—४३६
८. आचार्य कुंद कुंद की कृतियों में 'आत्मा' आनंद प्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'	४३७—४४२
९. जैन पद साहित्य में पाश्र्वनाथ श्रीमती मुनि जैन	४४३—४४८
१०. राजस्थान में जैन मंदिरों की आर्थिक व्यवस्था सोहन कृष्ण पुरोहित	४४९—४५४
११. गुरुदेव के काव्यों में रस-परिपाक मुनि विमल कुमार	४५५—४६०
१२. आचार्य महाप्रज्ञ का सौन्दर्य दर्शन हरिशंकर पाण्डेय	४७१—४७६
१३. बौद्ध धर्म दर्शन : एक दृष्टि माधोदास मूंघड़ा	४७७—४९२
१४. संगीत का प्राणतत्त्व जयचंद्र शर्मा	४९३—४९६
१५. अस्तित्ववाद बीरबाला छाजेड़	४९७—५०२

तुलसी प्रज्ञा, लाडनू : खंड २३ अंक ४

१६. प्राचीन भारत में परिव्राजिकायें
रतनलाल मिश्र

५०३—५०६

१७. साहित्य-सत्कार एवं पुस्तक समीक्षा
परमेश्वर सोलंकी

५०७—५१४

English Section

1. Unique Example of Embryo-Transfer ? 155—162
Mangilal Bhutoria
2. The Jain Time-cycle and The cosmic calendar 163—174
Muni Nandighosh Vijay
3. New Horizons of Thinking
(Gurudeo Tulsī on Non-violence) 175—198
Translator—Anil Dhar
4. Acharya Mahaprajña on Training in Non-violence 199—204
Parameshwar Solanki
5. Book Reveiw 205—206

हमारे लेखक/Contributors

१. साठवी विमलप्रज्ञा
२. डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव, बी-१३२, सेक्टर-सी, महानगर, लखनऊ-२२६००६
३. समणी मंगलप्रज्ञा
४. साठवी श्रुतयशा
५. डॉ. नन्दलाल जैन, निदेशक, जैन केन्द्र, १२/६४४, बजरंग नगर, रीवा (म. प्र.)
—४८६००१
६. मुनि श्रीचंद्र 'कमल'
७. डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश' सह-आचार्य, जैन विश्वभारती संस्थान,
लाडनू
८. डॉ. श्रीमती मुन्नी जैन, वी-२३/४५, शारदानगर कौलोनी, नवावगंज मार्ग,
वाराणसी-१०
९. डॉ. योहन कृष्ण पुरोहित, सह-आचार्य, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास
विश्व विद्यालय, जोधपुर
१०. मुनि विमल सागर
११. डॉ. हरिशंकर पाण्डेय, व्याख्याता, प्राकृत विभाग, जैन विश्वभारती संस्थान,
लाडनू
१२. सेठ माधोदास मूँघड़ा, अध्यक्ष, गिरधर दास मूँघड़ा शिक्षण संस्थान, वीकानेर
१३. डॉ. जयचन्द्र शर्मा, निदेशक, श्री संगीत भारती महाविद्यालय, रानी बाजार,
वीकानेर
१४. श्रीमती बीरबाला छाजेड़, मेसर्स प्रदीप छाजेड़ एण्ड कम्पनी, १००, गोपाल मण्डी
मार्ग, कथल, उज्जैन—४५६००६
१५. डॉ. रतनलाल मिश्र, ४४/६२, किरणपथ, मानसरोवर, जयपुर—२०
१६. डॉ. परमेश्वर सोलंकी, सम्पादक, तुलसी प्रज्ञा, जैन विश्व भारती संस्थान,
लाडनू

तुलसी प्रज्ञा, लाडनू : खंड २३, अंक ४

17. **Shri Mangilal Bhutoria, Advocate, 7, Old Post office Street. Calcutta—700001**
18. **Muni Shri Nandi ghosh vijay, C/o Dr. Anil kumar Jain, 12, Sharda Kripa Society, Chandkheda, Ahmedabad—382424**
19. **Dr. Anil Dhar, Asstt. Prof., Jain Vishva-Bharati Institute, Ladnun**
20. **Dr. Parameshwar Solanki, Editor, Tulsj Prajna, Ladnun**

निक्षेप : भाषा और विचार की वैज्ञानिक प्रयोग पद्धति

साधवी विमलप्रज्ञा

अनुयोग जैनों की एक वैज्ञानिक और व्यवस्थित शिक्षा-पद्धति है। यह सत्य के समीप पहुंचने की पगडंडी है, व्याख्या पद्धति है। अनुयोग का अर्थ है—सूत्र के साथ अनुकूल अर्थ का योग करना।^१ सूत्र अपने छोटे से आकार में संकड़ों अर्थों को समेटे हुए है। उसके साथ सम्यक् अर्थ योजना का नाम अनुयोग है। अनुयोग विधि में पहले गुरु शिष्य के लिए सूत्र के अर्थ का कथन करता है, उसके बाद कथित अर्थ को नियुक्ति से समझाता है। तीसरी बार में शिष्य को प्रसंग-अनुप्रसंग सहित संपूर्ण ज्ञान करा देता है। यही अनुयोग विधि है।^१

अनुयोग के चार द्वार हैं—१. उपक्रम २. निक्षेप ३. अनुगम ४. नय। ये अनुयोग के चार प्रवेश द्वार हैं। बिना द्वार के नगर में प्रवेश नहीं हो सकता। एक द्वार होने से प्रवेश कठिनाई से होता है, कार्य में अवरोध पैदा होता है। चार मुख्य द्वार होने पर प्रवेश सुखपूर्वक हो सकता है। कार्य में भी अवरोध पैदा नहीं होता।^१ जिनभद्रगणी ने इसी सत्य को उद्घाटित करते हुए कहा—इन चार द्वारों से कथन नहीं करने से युक्त अयुक्त बन जाता है और अयुक्त युक्त बन जाता है।^१

अनुयोग विधि एक वैज्ञानिक पद्धति है। तत्त्व विचार के लिए इसी पद्धति का आलम्बन लिया गया। लेकिन जैन विद्वान इससे उदासीन रहे। उन्होंने इस पद्धति को अपनी लेखनी का विषय नहीं बनाया। जिससे जैन शिक्षा पद्धति का एक व्यवस्थित रूप शिक्षा जगत् के सामने प्रस्तुत नहीं हो सका। आज विचार जगत् में विरोध उत्पन्न हो रहा है। संघर्ष हो रहा है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उस वस्तु के सत्यापन के लिए अनन्त दृष्टियों की अपेक्षा रहती है। प्रत्येक वस्तु के लिए भाषा का प्रयोग वक्ता अपने विचारों के अनुसार करता है। किसी वस्तु की सिद्धि के लिए जब एकान्तिक भाषा का प्रयोग होता है तो वहां संघर्ष या विरोध की परिस्थिति बन जाती है और जब विचारों का विकेंद्रीकरण होता है तो वहां चिन्तन की स्वस्थ परम्परा उभरती है।

अनुयोग पद्धति विचारों को खूला आकाश देती है। चिन्तन को सम्यक् और स्वस्थ बनाती है। दो दृष्टियों में संघर्ष पैदा करने की अपेक्षा उसे सत्य के समीप ले जाती है। अनुयोग के मार्ग में न कोई विरोध है और न संघर्ष। यदि जैन दार्शनिक अनुयोग पद्धति से दूसरे दर्शनों का मूल्यांकन करते तो वे शायद खण्डनात्मक मार्ग की अपेक्षा मण्डनात्मक मार्ग का आलम्बन लेते। जैन दार्शनिकों ने स्फोटवाद का खण्डन किया किन्तु यदि वे शब्द नय के माध्यम से विचार करते तो स्फोटवाद का सत्य

तुलसी प्रज्ञा, लाडनू : खंड २३, अंक ४

नितर कर सामने आ जाता। अनुयोग पद्धति में सब समस्याओं का समाधान है। बौद्ध क्षणसन्तति को मानते हैं। उनके सामने एक समस्या आती है—एक वस्तु १०० वर्ष तक एकरूप में रही फिर पूर्ण नष्ट हो गई इसका हेतु क्या है? बौद्धों के पास इसका समाधान नहीं है। लेकिन जैन दर्शन के पास इसका समाधान है। जैन दर्शन में दो प्रकार के पर्याय हैं—१. व्यञ्जन पर्याय २. अर्थ पर्याय। व्यञ्जन पर्याय दीर्घकालिक है, स्थूल है। अर्थ पर्याय वर्तमानवर्ती है। व्यञ्जन पर्याय से यह समस्या स्वतः सुलभ जाती है।

अनुयोग का प्रथम द्वार है—उपक्रम। उत्तराध्ययन चूर्ण में उपक्रम को परिभाषित करते हुए लिखा है—उपक्रम वह है, जो शास्त्र को समीप लाता है—अध्येता के समक्ष पृष्ठभूमि के रूप में ग्रन्थ को प्रस्तुत करता है।^१ इससे श्रोता और पाठकों को ग्रन्थ का प्रारम्भिक परिचय प्राप्त होता है। उपक्रम—उपोद्घात के बिना व्यक्ति ग्रन्थ की विषय-वस्तु को नहीं जान सकता और न ही उसमें प्रवृत्त होने का उत्साहित हो सकता। बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है—अन्धेरे कमरे में रखी हुई वस्तुएं दीपक के प्रकाश में दिखाई देती हैं, इसी प्रकार शास्त्र में निहित अर्थ उपोद्घात के द्वारा अभिव्यक्त होता है।^१ जिस प्रकार मेघों से आच्छादित चन्द्रमा आकाश में नहीं चमकता है इसी प्रकार शास्त्र भी उपोद्घात के बिना उपयोगी नहीं बनता।^२

अनुयोग का दूसरा द्वार है—निक्षेप। निक्षेप का अर्थ है—न्यास करना। सूत्रकृतांग चूर्ण में कहा है—जिसका स्थापन नियत और निश्चित होता है, वह निक्षेप है। शब्द निरीक्षण की पद्धति का नाम निक्षेप है। वस्तु पहचान का माध्यम शब्द है। अर्थ और शब्द का वाच्य-वाचक संबंध है। इस संबंध स्थापना का उद्देश्य है—व्यवहार का निर्वहन। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, वस्तु के पर्याय अनन्त हैं लेकिन शब्द लक्ष्यों तक ही हैं इस स्थिति में वक्ता किस शब्द के द्वारा किस अर्थ को लक्षित कर अपनी बात कह रहा है। इस समस्या के समाधान में ही निक्षेप का महत्त्व है।

निक्षेप भाषा प्रयोग की पद्धति है। विचार संप्रेषणीयता में किसी भी प्रकार की कठिनाई न हो, अस्पष्टता या भ्रान्ति न रहे—इस दृष्टि से निक्षेप पद्धति अत्यन्त उपयोगी है। जगत् के व्यवहार तीन प्रकार से होते हैं—१. अर्थाश्रयी २. ज्ञानाश्रयी ३. शब्दाश्रयी। इस अनंत धर्मात्मक वस्तु के संव्यवहार के लिए इन तीनों व्यवहारों को आधार बनाना निक्षेप है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझाने के लिए उसके शाब्दिक, आरोपित, भूत, भावी और वर्तमान पर्यायों का विश्लेषण करना जरूरी है।

निक्षेप क्यों करना चाहिए? निक्षेप की उपयोगिता क्या है? इन प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में गुरुदेव श्रीतुलसी ने “भिक्षु न्याय कर्णिका” में इसके दो प्रयोजन बतलाए हैं—१. अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण २. प्रस्तुत अर्थ का विधान। उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति में अन्य दो कारणों का उल्लेख है—१. शिक्षार्थी की मति को व्युत्पन्न करना। २. सब वस्तुओं के सामान्य और विशेष धर्मों का प्रतिपादन।

निक्षेप के कितने प्रकार हो सकते हैं? इस प्रश्न के समाधान में सूत्रकार ने अनुयोगद्वार में कहा है—

अथ य जं जाणेज्जा णिक्खेवं णिक्खवे णिरवसेत् ।

अथ वि य न जाणेज्जा चउक्कयं णिक्खवे तत्थ ॥

अर्थात्—निक्षेप करने वाला यदि समस्त निक्षेपों को मानता है तो वहाँ सभी निक्षेपों से वस्तु का निरूपण करना चाहिए जहाँ सब निक्षेपों का ज्ञान न हो वहाँ कम से कम चार निक्षेप अवश्य करने चाहिए । सामान्य रूप से निक्षेप के चार भेद होते हैं—१. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य ४. भाव । उत्तराध्ययन निर्युक्ति में उत्तर शब्द को १५ निक्षेपों से व्याख्यायित किया गया है । १. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य ४. क्षेत्र ५. दिशा ६. तापक्षेत्र ७. प्रज्ञापक ८. प्रति ९. काल १०. संचय ११. प्रधान १२. ज्ञान १२. क्रम १४. गणना १५. भाव ।

किसी भी वस्तु की पहचान का प्रथम माध्यम है—नाम और रूप । बिना नाम और रूप के कोई भी वस्तु व्यवहार में उपयोगी नहीं बन सकती । व्यवहार चलाने के लिए किसी संकेत पद्धति का विकास करना होता है । व्यवहार काल में किसी वस्तु को समझने और समझाने के लिए कोई नाम गढ़ा जाता है, किसी आकार में बांधा जाता है अथवा किसी वस्तु में उसे आरोपित किया जाता है जिससे वह उस वस्तु का बोध करा सके । कषाय पाहुड में सामान्य के दो प्रकार बतलाये हैं—१. तद्भाव सामान्य २. सादृश्य सामान्य । तद्भाव सामान्य—वस्तु का अपना सामान्य है । सादृश्य सामान्य—वस्तु का प्रतिबिम्ब फोटो आदि, जो वस्तु का बोध कराता है । नाम में दोनों विकल्प पाए जाते हैं । स्थापना में तद्भाव सामान्य का अभाव है वहाँ केवल सादृश्य सामान्य ही है । इस प्रकार नाम यावत्कथिक होता है, स्थापना यावत्कथिक और इत्वरिक—दोनों प्रकार की होती है ।

द्रव्य निक्षेप—जो भूत और भावी पर्याय का कारण है, वर्तमान में अनुपयुक्त है, वह द्रव्य निक्षेप है । हमारे विचार का आधार है—स्मृति और कल्पना । इतिहास अतीत की स्मृति कराता है, व्यक्ति के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता है । यह विचार का प्रथम कोण है । विचार का दूसरा कोण है—कल्पना । कोई भी व्यक्ति कार्य करने से पहले उसकी योजना बनाता है, कल्पना करता है । इन दो कोणों के आधार पर द्रव्य निक्षेप के 'ज्ञ' शरीर और भव्य शरीर—ये दो विकल्प निष्पन्न हुए हैं ।

'ज्ञ' शरीर का अर्थ है—अतीत में जानने वाले का शरीर । जैसे कोई व्यक्ति अतीत में उत्तर शब्द को जानता था लेकिन वर्तमान में उसका शरीर है । उसे कहते हैं उत्तर शब्द को जानने वाले का शरीर ।

भव्य शरीर—भविष्य में जानने वाले का शरीर । जैसे यह व्यक्ति भविष्य में उत्तर शब्द को जानेगा ।

द्रव्य निक्षेप का तीसरा विकल्प है—तद्व्यतिरिक्त । उत्तराध्ययन वृत्ति में तद्व्यतिरिक्त के तीन भेद हैं—१. सचित्त-पिता के उत्तर में पुत्र । २. अचित्त—दूध का उत्तरवर्ती दही । ३. मिश्र—मां के शरीर से उत्पन्न रोम आदि युक्त सन्तान ।

उत्तराध्ययन निर्युक्ति एवं कषाय पाहुड में तद्व्यतिरिक्त के दो भेद अन्य प्रकार से उपलब्ध होते हैं—१. कर्म २. नो कर्म ।

अनुयोग द्वार सूत्र में तद्व्यतिरिक्त के तीन भेद हैं—१. लौकिक २. कुप्रावचनिक
३. लोकोत्तर ।

इन भेदों से यह संभावना की जाती है कि ज्ञ शरीर और भव्य शरीर के अतिरिक्त जितने विकल्प बनते हैं वे तद्व्यतिरिक्त के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं ।

इन तीन निक्षेपों के अतिरिक्त जो निक्षेप प्राप्त हुए उन्हें उत्तर शब्द से घटित किया है—

क्षेत्र उत्तर—मेरु आदि की अपेक्षा उत्तर में स्थित उत्तर कुरू । क्षेत्र का एक अर्थ खेत भी है, इस अपेक्षा से जो पहले शालि-क्षेत्र था बाद में वही इक्षु-क्षेत्र बन गया ।

दिशा उत्तर—यह उत्तर दिशा है, दक्षिण दिशा की अपेक्षा से ।

ताप क्षेत्र उत्तर—ताप दिशा की अपेक्षा । जैसे सबके उत्तर में ।

प्रज्ञापक उत्तर—प्रज्ञापक के बायें भाग में स्थित व्यक्ति ।

प्रति उत्तर—एक दिशा में स्थित देवदत्त और यज्ञदत्त में देवदत्त से परे यज्ञदत्त उत्तर ।

काल उत्तर—समय के उत्तर में आवलिका ।

संचय उत्तर—धान्य राशि के ऊपर काष्ठ ।

प्रधान उत्तर—इसके तीन विकल्प हैं—१. सचित्त २. अचित्त ३. मिश्र ।

१. सचित्त उत्तर—द्विपद में उत्तर तीर्थकर ।

२. अचित्त उत्तर—चिन्तामणि ।

३. मिश्र उत्तर—गृहस्थ अवस्था में अलंकार युक्त तीर्थङ्कर ।

ज्ञान उत्तर—केवलज्ञान, निरावरणता के कारण ।

क्रम उत्तर—परमाणु से उत्तर है द्विप्रदेशी स्कन्ध ।

गणना उत्तर—एक के उत्तर में दो ।

भाव उत्तर—औदयिक आदि पांच भावों में क्षायिक भाव उत्तर है ।

निक्षेप के अनेक विकल्प बन सकते हैं । जिसे जितना ज्ञात हो उतने ही विकल्प बना सकता है । इसलिए जीत भाष्य में निक्षेप शब्द का निर्बचन करते हुए बताया गया है :

नि शब्द के तीन अर्थ—१. ग्रहण २. आदान ३. अधिक । क्षेप—प्रेरित करना । जिस वचन पद्धति में नि—अधिक, क्षेप—विकल्प हो उसका नाम निक्षेप है ।

निक्षेप और नय की संबंध योजना—निक्षेप विचार की पृष्ठभूमि और नय दूसरों के अभिप्राय को जानना । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं—निक्षेप और नय में विषय-विषयी संबंध है । निक्षेप और नय की संबंध-योजना में अलग-अलग आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं—

निक्षेप	नय	आचार्य
नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव,	नैगम, संग्रह, व्यवहार	आचार्य गुणधर
नाम, स्थापना, द्रव्य	नैगम, संग्रह, व्यवहार	" सिद्धसेन
भाव निक्षेप	ऋजुसूत्र नय ।	" सिद्धसेन
चार निक्षेप	"	" जिनभद्रगणी
नाम, द्रव्य, भाव	"	" गुणधर
नाम और भाव	शब्द नय	" गुणधर

इस प्रकार नय और निक्षेप दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। इन दोनों के माध्यम से व्यक्ति वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझ सकता है। अपनी सोच को सम्यक् और स्वस्थ बना सकता है। □

संदर्भ

१. आवश्यक मलयगिरीया वृत्ति प. ९०
२. सुत्तथो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसितो भणितो ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही होई अणुओगे ॥ नन्दी १२७।५
३. उत्तराध्ययन चूणि पृ० ८
४. विशेषावश्यक भाष्य—१३८३
५. शास्त्रसमीपीकरणं शास्त्रस्याभ्यासदेशानयनमित्यर्थः
उत्तराध्ययन चूणि पृ० ९
६. बृहत्कल्प भाष्य १—पृ० २
७. आवश्यक चूणि १ पृ. ८४
८. उत्तराध्ययन वृत्ति प ४
९. उत्तराध्ययन निर्युक्ति १

—साध्वी विमल प्रज्ञा

भारतीय लोकजीवन का मांगलिक प्रतीक थापा या पञ्चाङ्गुलांक

ए. एल. श्रीवास्तव

मांगलिकता भारतीय जीवन का अविभाज्य अंग रही है और आज भी है। गांव-कस्बों से लेकर नगर-महानगरों तक फैले जन-जन में मांगलिक भावना भरी हुई है। सुख, सम्पन्नता, सन्तान, सौंदर्य और सौभाग्य की आकांक्षाओं से कौन अछूता है? कल्याणी मांगलिक भावना हमारे मन में भीतर तक व्याप्त हो गई है। इसीलिए जाने-अनजाने, चाहे-अनचाहे हमारे जीवन में जब-जब हर्ष और उल्लास के क्षण आते हैं, हमारी मांगलिक भावनाएं उजागर हो उठती हैं। इनसे हमारे मन पवित्र हो जाते हैं ठीक वैसे ही जैसे मन्दिर में देव-प्रतिमा के समक्ष जाने पर हमारे मन के कलुष दूर हो जाते हैं और मन सात्त्विक तथा पवित्र भावों से भर जाता है।

मांगलिकता को भारतीय जनमानस ने भांति-भांति के स्वरूपों में अभिकल्पित किया है। इन्हीं स्वरूपों को मांगलिक चिह्न अथवा मांगलिक प्रतीक कहा जाता है। मन के भावों को प्रकट करने में जब वाणी असमर्थ होती है या शब्द गूंगे हो जाते हैं तब प्रतीक ही सहायक बनता है। हमारा साहित्य, कला, धर्म, दर्शन और लोकजीवन इन प्रतीकों से भरे पड़े हैं। इन प्रतीकों से हमारे विचार, आदर्श, आध्यात्मिकता आदि सहज रूप से अभिव्यक्ति पाते हैं।

भारतीय कला और लोककला में अनेक मांगलिक चिह्न या प्रतीक लोकप्रिय रहे हैं जैसे स्वस्तिक, श्रीवत्स, मीन-मिथुन, कलश, पद्म, माला, नन्दद्यावर्त आदि। इसके अतिरिक्त घर-परिवार में काम आने वाले सभी उपकरण जैसे चक्की-चूल्हा, गाली-मूसल, सिल-बट्टा, चांद-सूरज, गाय-बैल, तोता-मोर आदि महिलाओं की अभिरुचि और जीवन-जगत् के प्रति उनकी निकटता का संकेत भी देते हैं। महिलाओं द्वारा बनाई गई अल्पनाओं में इन्हीं मांगलिक प्रतीकों का लोकरंजक स्वरूप प्रकट होता है। इनमें उनकी सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक मनोवृत्तियां प्रकट होती हैं। ये अल्पनाएं और उनमें प्रयुक्त ये मांगलिक प्रतीक उनके लोकाचार को प्रतिबिम्बित करते हैं। इन्हीं से लोक-विश्वास जीवित रहते हैं। ध्यान दें, अल्पना बनाने को चौक पूरना कहा जाता है। यह 'पूरना' पूर्णत्व की मांगलिक भावना ही है।

भारतीय लोकजीवन का एक ऐसा ही सशक्त मांगलिक चिह्न है 'थापा' यानी हाथ की पांचों उंगलियों का निशान। प्राचीन भारतीय साहित्य में इसे 'पञ्चाङ्गुलांक', कहा गया है। यह 'थापा', 'थपिया' अथवा 'पञ्चाङ्गुलांक' प्रायः चावल की पीठी

तुलसी प्रज्ञा, लाडनू : खंड २३ अंक ४

(पिष्ट) से बनाया जाता है इसीलिए बाणभट्ट के ग्रंथ-हर्षचरित में इसे 'पिष्टपञ्चाङ्ग-गुलांक' कहा गया है ।

चाहे बालक का जन्म हो, किसी लड़के या लड़की का विवाह हो, लड़की का तिलक हो या फिर देवी की पूजा हो, घर की महिलाओं के द्वारा हल्दी और चावल की पीठी से तैयार किए गए ऐपन से थापे लगाने की परम्परा हमारे देश के कोने-कोने में आज भी पाई जाती है । जन्मोत्सव या विवाहोत्सव के अवसर पर नारियां अपनी दायीं हथेली में ऐपन लगाकर घरों के दरवाजों के पक्खों पर उस हाथ की छापें लगा देती हैं । जब लड़की का तिलक चढ़ाया जाता है तब उसमें भेजे जाने वाले कपड़ों के थान पर लड़की के हाथ का थापा लगवाया जाता है । विवाह के मण्डप में गाड़े गए खम्भ पर भी थापे लगाए जाते हैं । इसी प्रकार विवाह के बाद जब मण्डप सिराया जाता है तब भी घर की नारियां प्रायः सभी परिजनों की पीठ पर थापे लगाती हैं । देवी की पूजा करते समय उनकी मढ़िया (छोटा मन्दिर) के प्रवेशद्वार पर अथवा बनाई गई अल्पना में भी नारियां प्रायः सात थपियां बनाकर सप्तमातृका के रूप में उनकी पूजा करती हैं ।

आइए देखें थापा या पञ्चाङ्गगुलांक की यह लोकप्रिय परम्परा कितनी पुरानी है, कितनी व्यापक है, और थापे का अर्थ क्या है, तात्पर्य क्या है अथवा ये क्यों लगाए जाते हैं ?

'थापा' या 'पञ्चाङ्गगुलांक' का उल्लेख हमारे साहित्य में, अभिलेखों में तथा कला में एक मांगलिक चिह्न के रूप में हजारों सालों से पाया जाता रहा है । इसी प्रकार थापे का उपयोग अनेक प्राचीन परंपराओं में दिखाई देता है ।

पुत्र-जन्म

सबसे पहले हम पुत्र-जन्म की परम्परा का परीक्षण करें । आज भी पुत्र-जन्म के अवसर पर घर के प्रवेशद्वार के अलग-बगल पक्खों पर पञ्चाङ्गगुल के छापे (थापे) बनाए जाते हैं । घर के जिस कमरे में बालक का जन्म होता है उसे 'सौरी' या 'सौरगृह' कहा जाता है । सौरकक्ष के द्वार पर ये थापे विशेष रूप से लगाए जाते हैं । थापों के साथ-साथ प्रवेशद्वार को झालरों और बन्दनवारों से भी सजाया जाता है । पुत्र-जन्म के अवसर पर पञ्चाङ्गगुलांकों से द्वार को सजाने की परंपरा के साक्ष्य सातवीं शताब्दी ई० के बाणभट्ट की कृति कादम्बरी में पाए गए हैं । कादम्बरी में उज्जयिनी के राजा तारापीड की रानी विलासवती के सूतिकागृह का विशद् वर्णन है । उसके द्वार के दोनों पाश्वर्कों में दो मंगल कलश पधराए गए थे । भांति-भांति के नव पल्लवों से बनीं झालरें और बन्दनवार द्वार पर लटकाई गई थीं । लोकाचार में निपुण बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों ने द्वार के पक्खों पर गोबर से सथियां (स्वस्तिक प्रतीक) बनाई थीं जिन पर कौड़ियां और कपास के गुल्ले चिपकाए थे । दोनों पाश्वर्कों में सूर्य और चन्द्र की आकृतियां बनाई गई थीं । उनके बीच में आलते के थापों से अलंकृत कपड़े चिपकाए गए थे ।'

विवाह

विवाह के अवसर पर थापे या पञ्चाङ्गुलांक का महत्त्व आज भी भारतीय समाज में सर्वज्ञात है। तिलक के अवसर पर कन्या पक्ष के लोग हल्दी, अक्षत, पान-सुपाड़ी, रोली-रक्षामूत्र, वस्त्र फल-फूल, मिष्ठान्न तथा द्रव्य आदि से थाल सजाकर वर पक्ष के यहां ले जाते हैं। उस थाल में जो कपड़ों के थान होते हैं, उन पर कन्या के दायें हाथ की थापें लगवाकर भेजी जाती हैं।

विवाहोपरान्त जब नव वधू घर में प्रवेश करती है, तब उस अवसर पर भी उसके दायें हाथ के थापे लगवाए जाते हैं। संभव है, प्रारम्भ में इन थापों के आधार पर सही कन्या की पहचान की जाती रही हो और आगे चलकर यह थापे लगाने की प्रथा रूढ़ हो गई हो। विवाह-मण्डप के खम्भ पर भी या तो ऐपन से थापे लगाए जाते हैं अथवा कपड़े पर थापे लगाकर उसे खम्भ पर लपेट दिया जाता है। ऐसे थापे प्रवेशद्वार पर, कोद्वार के स्थान पर और मण्डप के नीचे स्थापित मंगल कलश पर भी लगाए जाते थे।

बाणभट्ट के ग्रन्थ 'हर्षचरित' में हर्षवर्द्धन की बहन राज्यश्री के विवाह का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। उसमें कहा गया है कि उस अवसर पर आए हुए राजा लोग स्वयं फेटा लगाकर अनेक प्रकार के कामों में जुट गए। कोई सिन्दूरी रंग से मांजकर फर्श को चमकाने लगे, कुछ ब्याह की वेदी के खम्भों को अपने हाथ से खड़ा करने लगे और कुछ उन्हें गीले ऐपन के थापों, आलता के रंग में रंगे कपड़ों और आम तथा अशोक के पत्तों से सजाने लगे। (क्षितिपालैश्च स्वयमाबद्धकक्षः स्वाम्यपित कर्म शोभा-सम्पादनाकुष्ठैः सिन्दूरकुट्टिमभ्रमीश्च मसूण्यदिभः विनिहितसरमातर्पणहस्तान् विन्यस्ता-लक्तपाटकांश्च)।² उस अवसर पर ओखली, मुसल, सिल आदि घर के उपकरणों पर भी ऐपन के थापे लगाए गए थे (पिष्टपञ्चाङ्गुलमण्ड्यमानोलूखलमुसलशिलाद् युपकरणम्)।³

भवनों की सजावट

थापों की पांतों से सजे-सजाए घर आज भी गांवों में दिखाई देते हैं। भवनों की थापों या पञ्चाङ्गुलांकों से सजाने की परम्परा बड़ी पुरानी है। आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले श्रीलंका में रचे गए ग्रन्थ महावंश में एक महास्तूप के निर्माण का विस्तृत वर्णन है। इसमें कहा गया है कि श्रीलंका के राजा दुट्ठगामिनी ने महास्तूप का निर्माण करवाया और उसमें घातु (अवशेष) की स्थापना की। इसके बाद उसने दर्जी से सफेद वस्त्र का गिलाफ बनवाकर उससे महाचैत्य को ढंकवाया तथा चित्रकारों से उस वस्त्र पर सुन्दर-सुन्दर वेदिका, पूर्णघटों की पंक्ति और पञ्चाङ्गुलांकों की पंक्ति चित्रित करवाई (चित्तकारेहि कारेसि वेदिकं तत्थ साधुकं पन्ती पुण्णघन्टानं च पञ्चाङ्गुलांकपन्तिकम्)।⁴

महावंश के इस वर्णन की सम्पुष्टि शृंगकालीन भरहुत तथा मथुरा-शिल्प से होती है। भरहुत तथा मथुरा के उत्कीर्ण शिल्प में स्तूपों, विहारों, बोधिघरों और चक्रमों (वह चक्रतरा जिस पर बुद्ध टहला करते थे) के अंकन पाए गए हैं जिन पर

पञ्चांगुल पंक्तियाँ भी उकेरी गई हैं जो तत्कालीन भवन-सज्जा की परम्परा पर प्रकाश डालती हैं। भरहुत-शिल्प से दो उदाहरण-स्तूपों^१ तथा एक बोधिचक्रम^२ का प्राप्त हुआ है। इनमें एक स्तूप की मेधि की दीवार पर तथा दूसरे के अण्ड भाग पर पञ्चाङ्गुल चिह्न पंक्तिबद्ध दिखाई देते हैं। चैत्याकार खिड़कियों वाले एक स्तम्भमंडप के भीतर रत्नचक्रम है जिसके ऊपर फूल बिखरे हैं और जिसकी भित्ति पर पञ्चांगुलों की एक पंक्ति है। मथुरा से मिले एक उत्कीर्ण फलक पर बोधिधर का अंकन है जिसकी आधारभित्ति पर भी थापों की एक पंक्ति बनी दिखाई देती है।

पशुओं की सजावट

थापे या पञ्चांगुलांकी से पालतू पशुओं को सजाने की परम्परा भी अत्यन्त प्राचीन काल से आज तक समाज में प्रचलित है। दीपावली के दूसरे दिन प्रतिपदा को गोधन-पूजा का पर्व मनाया जाता है। उस दिन गांवों में घर के पालतू पशुओं जैसे गाय, बैल, भैंस आदि के सींगों में गेरू एवं तेल का लेप लगाया जाता है, उनके गलों में घण्टियाँ लटकाई जाती हैं और गेरू एवं तेल के लेप से उनके अंग पर थापे भी लगाए जाते हैं। पशुओं के अंग पर पञ्चांगुलांक बनाने की परम्परा के कई प्राचीन पुरातात्विक और साहित्यिक साक्ष्य पाए गए हैं।

मन्दसौर (मध्यप्रदेश) से प्राप्त यशोधर्मन के स्तंभ-अभिलेख के प्रारंभ में शिव की वंदना है। उसमें कहा गया है कि शूलपाणि (शिव) की वह लम्बी पताका तुम्हारे शत्रु की शक्ति का मर्दन करे जिसमें वृषभ का चिह्न बना है और जिसके अंग पर पार्वती द्वारा पञ्चांगुल का लांछन अंकित किया गया है—

उक्षाणं तं दधानः क्षितिधरतनयादत्त पञ्चागुलांक

द्राघिष्ठः शूलपाणेः क्षपयतु भवतां शत्रुतेजांसि केतुः।^३

बलिपशु की सजावट में भी पञ्चाङ्गुलांक का उपयोग किया जाता था। इसका एक उल्लेख मतकभक्त जातक कथा में तथा दूसरा शूद्रक रचित नाटक मृच्छकटिकम् में पाया जाता है। मतकभक्त जातक में एक गुरु श्राद्ध करने के लिए तैयार है। श्राद्ध में वह एक मेष की बलि देना चाहता है। वह गुरु अपने एक शिष्य को बुलाकर कहता है कि “तात ! इस मेष को नदी पर ले जाकर, नहलाकर, इसके गले में माला पहनाकर तथा इसके अंग को पञ्चाङ्गुलांकों से सजाकर ले आओ” (ताता इमं एलकं नदि ने-वा नहापेत्वा कण्ठे मालं परिक्रवित्वा पञ्चङ्गुलिकं दत्वा मण्डेत्वा आनेथा)।^४

आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले गुप्तकाल में रचे गए संस्कृत नाटक ‘मृच्छकटिकम्’ में एक ऐसा उल्लेख है जिसमें बलि दिए जाने वाले पशु के अंग को लाल थापों से सजाने का संकेत है। चोरी के अभियोग में जब नायक चारुदत्त को शूली पर लटकाने के लिए ले जाया जाता है तब वह कहता है कि “पुरुष के भाग्य का कार्य अचिन्तनीय है जिससे मैं ऐसी दशा को प्राप्त हो गया हूँ, क्योंकि समस्त अंगों पर लालचन्दन के थापों के द्वारा तथा पीठी और तिलों के चूर्ण से व्याप्त करके मुझ पुरुष को ही बलिपशु बना दिया गया”—

सर्वगात्रेषु विन्यस्तैः रक्तचन्दनहस्तकैः

पिष्टचूर्णावकीर्णेषु पुरुषोऽहं पशुकृतः ।¹

इस उदाहरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में शूली पर लटकाए जाने से पहले अभियुक्त के अंग पर भी लालचन्दन के पञ्चाङ्गुलांक अंकित किए जाते थे ।

पूर्णकलश की सजावट

पूर्णकलश अथवा मंगलकलश के बिना तो हमारे कोई भी धार्मिक या सामाजिक अनुष्ठान पूरे ही नहीं होते हैं। बाणभट्ट के ग्रन्थ 'हर्षचरित' में एक कलश का उल्लेख मंगल कलश के रूप में पाया जाता है। बाणभट्ट को जब सम्राट हर्षवर्द्धन ने अपने राजदरबार में बुलवाया तो जाने से पहले बाणभट्ट ने कई मांगलिक कृत्य किए। इन्हीं में मंगलकलश के दर्शन करना भी सम्मिलित था। जिस मंगलकलश के दर्शन बाणभट्ट ने किए थे वह गोबर से लिपे हुए चबूतरे पर स्थापित था। उस मंगलकलश के गले में सफेद फूलों की माला बंधी थी, उसके मुख पर आभ्रपल्लव रखे हुए थे और उसकी पिटार पर पंचांगुल का मंगल चिह्न अंकित था। (पिष्टपञ्चाङ्गुलपाण्डुरम्)।¹⁰

शस्त्र की सजावट

पंचांगुल के चिह्न से एक युद्ध-शस्त्र के सजे होने का उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में मिला है, निकुम्भ रावण का एक मंत्री और कुम्भकरण का वीर्यवान पुत्र था। इसने हनुमान के साथ घोर युद्ध किया परन्तु अन्त में हनुमान ने इसका वध कर दिया। इसी निकुम्भ का परिघ फूल मालाओं तथा पंचांगुल के मंगल चिह्न से अलंकृत था—

ततः स्रग्दामसन्नद्धं दत्तपञ्चाङ्गुलं शुभम्

आददे परिघं धीरो महेन्द्रशिखरोपम् ॥¹¹

मूर्तिका पञ्चाङ्गुलांक

जर्मन पुरातत्त्वविद् हबर्ट हर्टेल ने सोख (मथुरा) टीले की खुदाई में २७ वें स्तर (प्रथम शताब्दी ई० पू०) से पकाई मिट्टी का एक पञ्चाङ्गुल खोजा है। ३.२ × २.१ से० मी० माप वाले इस पञ्चाङ्गुल की पांचों उंगलियां सीधी खुली हुई हैं और हथेली में वैजयन्ती, नन्द्यावत और स्वास्तिक के चिह्न बने हुए हैं।¹² किसी मृण्मूर्ति का अंग न होकर यह एक स्वतंत्र पञ्चाङ्गुल है। इस पञ्चाङ्गुल के पाए जाने से यह तथ्य प्रकट होता है कि पञ्चाङ्गुल प्रतीक न केवल चित्रित ही किए जाते थे अपितु मांगलिक अवसरों पर उनके मूर्त स्वरूप का भी उपयोग किया जाता था। संभव है मूर्तिका पञ्चाङ्गुल का कोई तांत्रिक उपयोग रहा हो, क्योंकि कतिपय ज्योतिष-ग्रंथों में पञ्चाङ्गुली नाम की देवी का उल्लेख पाया जाता है।

शमशान में पञ्चाङ्गुलांक

भरहुत के स्तूप की वेदिक-शीर्ष पर एक फलक में पञ्चाङ्गुल का एक विचित्र

अंकन मिला है। दृश्य में एक आसन या चक्रम है जिसके पीछे बायीं ओर चार सिद्धों के भ्रांक्ते मुख हैं और दायीं ओर पांच पुरुष हाथ जोड़े खड़े हैं। आसन के आगे कई बांसों से बनाई गई एक टिकटी जल रही है। टिकटी के एक सिरे पर एक सर्प तथा दूसरे सिरे पर एक लघु मानव-आकृति है। टिकटी के बायीं ओर अपने घुटने पर बाएं हाथ की कोहनी टिकाए और हथेली पर मस्तक टिकाए एक व्यक्ति शोकमुद्रा में बैठा है। नीचे अगल-बगल दो पिशाच-मुण्डों के बीच एक पञ्चाङ्गुलांक है। दृश्य के ऊपर एक ब्राह्मी लेख है—'द द नि क मो च क मो।'¹⁷

इस दृश्य को समझने में विभिन्न विद्वानों ने अपने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। कर्निघम ने इस दृश्य में सोलह बौद्ध नरकों में से एक का,¹⁸ बेणीमाधव बरुआ ने उरगजातक का¹⁹ और ल्यूडर्स ने किसी बोधिसत्त्व की तपस्या तथा उसके द्वारा की गई मार-विजय का अंकन माना है।²⁰ परन्तु दृश्य में उत्कीर्ण पञ्चाङ्गुलांक की ओर किसी विद्वान ने बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। यहां तक कि उसका उल्लेख तक नहीं किया। संभव है इस दृश्य में पञ्चतत्त्व के प्रतीक के रूप में पञ्चाङ्गुलांक बनाया गया हो। चूंकि दृश्य श्मशान का है, इसलिए संभवतः पञ्चाङ्गुलांक बनाकर कलाकार यह बतलाना चाहता हो कि जिन पञ्चतत्त्वों (क्षिति, जल, पावन, गगन, समीर) के समानुपातिक संगठन से शरीर का निर्माण होता है, उनके विघटन से शरीर नष्ट हो जाता है और यही जन्म और मृत्यु का मर्म है। राजस्थान और मध्यप्रदेश में मिलने वाले सती-स्तंभों पर भी थापे या पंजे को उकेरा गया है। इसे छत्तीसगढ़ क्षेत्र में हाथा करते हैं। सती स्टोन्स के थापे सती के स्मारक होने के साथ-साथ संभवतः जीवन और मृत्यु का संकेत भी देते हैं।

अलम और पञ्चाङ्गुल

पञ्चाङ्गुल का प्रयोग भारतीय मुसलमानों में भी 'पंजा' के रूप में पाया जाता है। मोहर्रम के दिनों में जब वे जुलूस निकालते हैं तब अलम (झण्डा) उठाते हैं। अलम रंगीन कपड़े से लपेटा हुआ एक लम्बा बांस होता है जिसमें रंगीन कपड़े की ही एक फहराती हुई पताका जोड़ ली जाती है। अलम के शीर्ष पर प्रायः चांदी का एक पंजा लगा रहता है। इसीलिए इस आलम को पंजा भी कहते हैं। मुस्लिम विश्वास में इसे हजरत अब्बास अथवा हजरत अली का पंजा माना जाता है जिसे अलम के रूप में उठाया जाता है।²¹ ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानों के भारत में आ जाने के उपरांत ही उनमें पंजे का महत्त्व पनपा और बढ़ा होगा। राजस्थान में चुरू और श्रीगंगानगर के बीच गोगापीर की दरगाह या मंदिर है। इसके पुजारी हिन्दू और मुसलमान दोनों होते हैं जो मिलजुलकर दरगाह की व्यवस्था करते हैं और चढ़ावे को आपस में बांट लेते हैं। इस दरगाह पर आने वाले हिन्दू मनौती में गोबर और हल्दी से दीवार पर स्वस्तिक बनाते हैं और मुसलमान थापे की छाप लगाते हैं।

पंजा साहिब

भाषा-विज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व प्राचार्य

डा० हरदेव बाहरी ने लेखक को बतलाया कि पाकिस्तान में सिक्खों का एक महत्वपूर्ण तीर्थ है पंजा साहिब। पंजा साहिब में एक पहाड़ी पर धंसे हुए एक पंजे का निशान है जिससे पानी निकलता रहता है। सिक्ख-मान्यता के अनुसार एक बार गुरु नानक अपने परम शिष्य मस्ताना के साथ कहीं जा रहे थे कि रास्ते में उन्हें प्यास लगी। वहाँ स्थित बली कंधारी नामक पीर से उन्होंने पानी मांगा। पीर के इनकार करने पर गुरु नानक ने अपना खुला पंजा पहाड़ी की चट्टान में शक्ति के साथ गड़ा दिया। जहाँ उन्होंने पंजा गड़ाया वहीं से निर्मल जल की धारा वह निकली जो आज तक ज्यों की त्यों बह रही है। जहाँ से जल प्रवाहित हो रहा है वहाँ पर अब भी पंजे का निशान है जिसे अपनी यात्रा के दौरान डा० बाहरी ने स्वयं देखा था।

पञ्चाङ्गुलांक की इस सुदीर्घ परम्परा में प्राचीनता का पुट और बढ़ जाता है जब इसका अंकन हमें देश की प्रागैतिहासिक गुहा चित्रों में मिल जाता है। उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर जिले में सोरहोघाट, कोहबर और कण्डाकोट पहाड़ के समीपवर्ती मार्ग में स्थित शिलाश्रयों में क्षेपांकन (स्टैंसिल) विधि से अंकित गेरुए रंग के अनेक हस्तचित्र प्राप्त हुए हैं।¹⁶ कहीं अकेले एक हाथ की छाप मिलती है, कहीं दोनों की। मध्यप्रदेश में हीरांगाबाद के निकट भीमबेटका नामक पहाड़ी क्षेत्र के स्तर III एफ-१७ में १११ और स्तर III ई-१२ में दो पञ्चाङ्गुल के चित्रांकन मिले हैं।¹⁷ मध्यप्रदेश के ही रायसेन जिले में बरखेड़ा नामक स्थान के शिलाश्रयों से भी ऐसे ही पञ्चाङ्गुलांक चित्रित पाए गए हैं।¹⁸ तक्षशिला की पुरातात्विक खोदाई में अनेक पंचमाकं सिक्कों पर अन्य प्रतीकों के साथ पञ्चाङ्गुल का प्रतीक भी पाया गया है।¹⁹

यदि अधिक नहीं तो कम से कम ढाई हजार वर्षों से धाये या पञ्चाङ्गुल की परम्परा हमारे देश में निरन्तर अबाधगति से प्रचलित रही है। इस मांगलिक प्रतीक की लोकप्रियता का कारण क्या है? दूसरे शब्दों में धाये का अर्थ क्या है, इस चिह्न में कौनसा तात्पर्य सन्निहित है? संभवतः इसके दो कारण बताए जा सकते हैं—पहला पांच की संख्या का महत्त्व और दूसरा कर्म का महत्त्व।

संभव है पञ्चाङ्गुल पांच की संख्या का द्योतक होने के कारण शुभ एवं मांगलिक माना जाने लगा हो। भारतीय जीवन में पांच का विशेष महत्त्व है। पञ्चतत्त्व, पञ्चपरमेश्वर, पञ्चामृत आदि का साक्षणिक अर्थ किसी से छिपा नहीं है। सिक्ख सम्प्रदाय में पंजे का पूज्य स्थान है। उनके पंजे में पांच 'क' आते हैं—केश, कंधा, कृपाण, कच्छा और कड़ा जिनका प्रत्येक सिक्ख के पास सदैव होना आवश्यक माना जाता है। भारतीय मुसलमानों में भी पांच की संख्या शुभ मानी जाती है। उनके पांच महापुरुषों को 'पंजतन' कहा जाता है जिसमें हजरत मोहम्मद साहब, उनकी बेटी फातिमा, दामाद हजरत अली और उनके दो नाती हसन और हुसेन की गणना की जाती है।

धाये या पञ्चाङ्गुलांक की लोकप्रियता का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण इसमें सन्निहित कर्म की प्रेरणा है। पञ्चाङ्गुल हाथ का प्रतीक होने के कारण महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय बना। हाथ कर्म करने की क्षमता का द्योतक है और धर्म का साधन है।

हाथ से हम सभी प्रकार के धर्म-कर्म करते हैं। हाथ से हम भोजन करते हैं, शौच करते हैं, लिखते-पढ़ते हैं, तैरते-नहाते हैं, नहरें-तालाब खोदते हैं, जंगल-पहाड़ काटकर मार्ग बनाते हैं, तीर-तलवार चलाते हैं, कृषि करते हैं, वस्त्राभूषण, शयनासन, घर-आंगन, अस्त्र-शस्त्र बनाते हैं, मन्दिर और मूर्तियां बनाते हैं, पूजा करते हैं, हृदय के उल्लास एवं अवसाद प्रकट करते हैं।

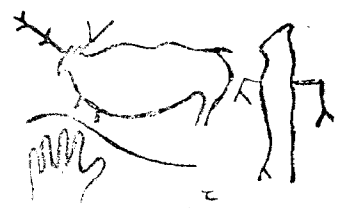
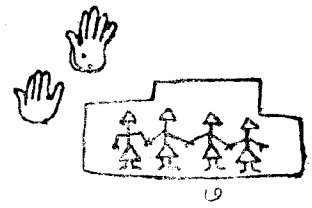
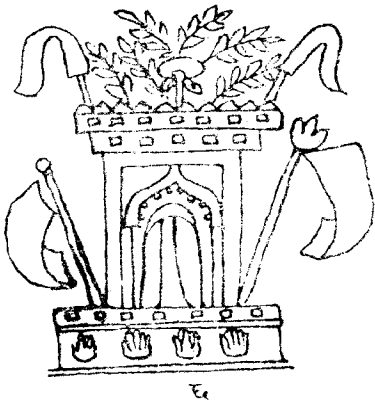
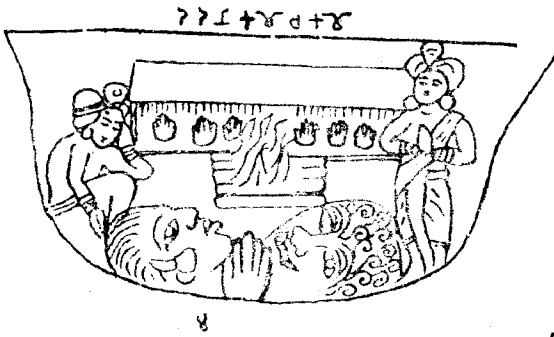
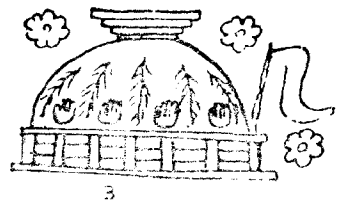
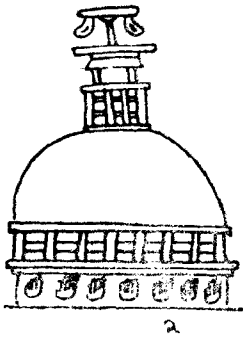
स्पष्ट है कि जीवन-व्यापार के लिए हाथों का कितना महत्त्व है। जिस दिन चौपाया दो पैरों पर खड़ा हुआ और उसके दो अगले पैर हाथ बने उसी दिन से मानव सभ्यता विकास द्रुत गति से हुआ। हाथों के इसी महत्त्व के कारण कहावत बनी— “अपना हाथ जगन्नाथ” अर्थात् ‘अपना हाथ समस्त जगत् का स्वामी है।’ संभवतः इसीलिए प्रातःस्मरण में सबसे पहले ‘कर-दर्शन’ की बात कही गई है—

कराग्रे वसति लक्ष्मी करमध्ये सरस्वती

करमूले तु गोविन्द प्रभाते करदर्शनम् ।

भारतीय मनीषियों ने बहुत पहले ही हाथ या पञ्चाङ्गुल का महत्त्व जान लिया था। तभी उन्होंने हाथ के प्रतीक थापे या पञ्चाङ्गुलांक को अपने समूचे जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु तक अपनाया था और जाने या अनजाने थापे की यह परंपरा भारतीय समाज में आज भी जीवित है।*

'भारतीय लोकजीवन का सांगलिक प्रतीक: धापा'



चित्र-परिचय : १. तक्षशिला के पंचमार्क सिक्कों पर उत्कीर्ण प्रतीक, २-३. भरहुत स्तूप के गुम्बज पर अंकित प्रतीक, ४. भरहुत शिल्प के श्मशान-दृश्य में अंकित, ५. सीख (मथुरा) से प्राप्त मृत्तिका पंचाङ्गुल, ६. मथुरा-शिल्प में बोधिघर की भित्ति पर अंकित, ७. बरखेड़ा (रायसेन, म० प्र०) से प्राप्त एक शिलाचित्र और ८. रौप (मिर्जापुर, उ०प्र०) से प्राप्त एक शिलाचित्र।

रेखांकन—ए. एल. श्रीवास्तव

टिप्पणी एवं संदर्भ

* प्रस्तुत लेख में लेखक ने 'पंचांगुलाक' की लोककथा परम्परा का व्योरा दिया है और मानव-जीवन से उसके तादात्म्य को उजागर किया है। इस सम्बंध में उन्होंने राजस्थान के पांच पीरों में गोगापीर, सिक्खों के बंजा साहब और मुसलमानों की पंचतन तथा सती-स्तंभों के हाथ को भी याद किया है।

राजस्थान में पंचपीरों में, गोगा मेड़ी के गोगा चौहान के बाद रामदेवरा के रामदेव तंबर की बड़ी मान्यता है और उनकी मजार पर प्रतिवर्ष लाखों लोग जिनमें मुसलमान 'अलम' लेकर और हिन्दू आदि यात्रा-संघ 'रामदेव पताकाएं' लेकर पैदल जाते हैं और धोक लगाते हैं। मजार के बाहर महिलाएं अपने हाथ भी मांडती हैं।

बीकानेर में एक पंच-मंदिर या पंचायतन मंदिर है जहां पांच देवताओं की पूजा होती है। सती-स्तंभों पर पंचांगुलाक नहीं बनता किन्तु जैसे विवाह बाद वधू की विदाई पर वह पीहर में दोनों हाथों की छापे मांड जाती है वैसे ही सती होने वाली महिला भी अपने ससुराल में दोनों हाथों की छापें लगाकर घर से बाहर जाती है। इस प्रकार यह बहिर्गमन पर स्मृति रूप होता है।

जोधपुर के बाला गांव की सती जो दिनांक १५-२-४३ से १५-११-८६ तक, ४३ वर्ष भूख-प्यास, निद्रा एवं मलमूत्र-विसर्जन आदि नैसर्गिक वृत्तियों का निरोध करने में समर्थ रही उसके संबंध में कहा गया है कि उसे जब एक पुराने घर में ले जाया गया और वहां किसी सती के हाथ का दर्शन कराया गया तो उसने कहा— यह तो ठीक है परन्तु बाकी तीन हाथों की छापें कहाँ हैं? बाद में शेष तीन छापें (पंचांगुलाक) भी मिल गईं जो उन्हीं की बताई गईं। अर्थात् वे ही उस घर से बाहर सती होने को गईं तो उन्हीं दो के स्थान पर चार (दोनों हाथों की दो, दो) छापें लगाई थीं।

—प. सो., संपादक

१. वासुदेवशरण अग्रवाल, काबम्बरी : सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी १९७०, पृ० ८४
२. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना १९६४, पृ० ७२
३. वही, पृ० ७०
४. महावंशटीका, ३२।३-५ (सं० एस० वी० सोहनी), पृ० ५४०
५. कनिंघम, स्तूप आँव भरहुत, वाराणसी १९६२, फलक ३१/१; राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, पुरातत्त्व विधिका, प्रदर्श सं० ७२-३३१
६. कनिंघम, उपरोक्त ३१।४
७. जे० एफ० फ्लीट, कार्पेस इन्डिक्रयान इण्डिकेरम, बाल्युम ३, पृ० १४६; वासुदेव उपाध्याय, गुप्त अभिलेख, पटना १९७४, पृ० २२४
८. मतकभक्तजातक, द्रष्टव्य राजकिशोर सिंह (सं०), अभिनव पालि-पाठावली, लखनऊ १९७७-७८, पृ० ७५
९. मृच्छकटिकम् १०।५
१०. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३६

११. रामायण, ६।७।२ (गीता प्रेस गोरखपुर संस्करण, २०२४-२५ वि० सं०)
१२. हर्बर्ट हर्टेल, 'द एक्जकेवेशन ऐट सोंख : ए प्रिलिमिनरी रिपोर्ट,'
जर्मन स्कालर्स इन इण्डिया, वाल्यूम २, नई दिल्ली १९७६, पृ० ८८ चित्र २७
१३. कनिष्क, उपरोक्त, फलक ४७।७; बेनीमाघव बरुआ, भरहुत, बुक ३, कलकत्ता १९३४, फलक ८१, चित्र ११६; भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता, निगेटिव सं० ए-२१
१४. कनिष्क, उपरोक्त, पृ० ९४
१५. बेनीमाघव बरुआ, उपरोक्त, बुक २, पृ० १२१-१२२
१६. कार्पस इन्स्क्रिप्शन इण्डिकेरम, वाल्यूम २, पार्ट २, अभिलेख सं० बी-७७, पृ. १७४
१७. इस जानकारी के लिए लेखक अपने मित्र डा० एस० एम० हैदर रिजवी (उर्दू विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद) का कृतज्ञ है।
१८. जगदीश गुप्त, प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, दिल्ली १९६७, पृ० ४३९, फलक प्रतीक ८।३
१९. यशोधर, 'भीमबेटका के शैल चित्रों का काल-निर्धारण', प्राच्य प्रतिभा वाल्यूम ३१ जुलाई (१९७५), सं० २ पृ० १०८; 'के० एस० वाकणकार, 'द प्रीहिस्टॉरिक पैराडाइज, प्राच्य प्रतिभा, उपरोक्त, चित्र ४
२०. द्रष्टव्य, वाल्यूम २८, सं० ४ (सितम्बर १९७५), फलक ७, चित्र-७-८
२१. मार्शल, तक्षशिला, वाल्यूम ३, केम्ब्रिज १९५१, १९५१, फलक २३२, १७७-८५

—डा० ए० एल० श्रीवास्तव
बी-१३२, सेक्टर-सी, महानगर
लखनऊ-२२६००६

शरीर में अतीन्द्रियज्ञान के स्थान

समणी मंगलप्रज्ञा

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा अनन्त, ज्ञान अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द एवं अनन्त शक्ति सम्पन्न है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त चतुष्टय विद्यमान है। आत्मा अपनी अनन्त ज्ञान शक्ति के द्वारा सार्वकालिक सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ को सर्वांगीण रूप में जानने में समर्थ है किन्तु संसारावस्था में आत्मा का यह स्वरूप ज्ञान-आवारक ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत रहता है, अतः आत्मा का वह मूल रूप प्रकट नहीं हो पाता। आवृत दशा में आत्मा का जितना-जितना आवरण दूर हटता है व उतना ही ज्ञेय जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित कर सकती है।

जैन परम्परा में मति आदि पांच ज्ञानों का स्वीकरण है।¹ ये पांच ज्ञान प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन दो भागों में विभक्त हैं। मति श्रुत ये दो ज्ञान परोक्ष हैं।² मति एवं श्रुत ज्ञान की अवस्था में आत्मा पदार्थ से सीधा साक्षात्कार नहीं कर सकती। पदार्थ ज्ञान में उसे आत्म भिन्न इन्द्रिय, मन, आलोक आदि की अपेक्षा रहती है, अतः इन ज्ञानों को परोक्ष कहा गया है।³ इन्द्रिय ज्ञान प्राप्ति के स्थान शरीर में प्रतिनियत हैं। इन्द्रियां अपने नियत स्थान से ही ज्ञान प्राप्त करती हैं।

आवरण के विरल अथवा सम्पूर्ण रूप से हट जाने से आत्मा को ज्ञेय साक्षात्कार में बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती अर्थात् इस अवस्था में इन्द्रिय, मन आदि पौद्गलिक साधनों का उपयोग नहीं होता है। अवधि, मनः पर्यव एवं केवलज्ञान ये अतीन्द्रिय ज्ञान हैं। जैन परम्परा में इन्हें प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है।⁴

अवधि एवं मनः पर्यव ये दो विकल/अपूर्ण प्रत्यक्ष है। तथा केवलज्ञान सकल/पूर्ण प्रत्यक्ष है।⁵ अवधि मनः पर्यव ज्ञान की सीमा रूपी द्रव्य है, जबकि केवलज्ञान की रूपी-अरूपी, सम्पूर्ण द्रव्यों में निर्बाध गति है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा शरीर प्रमाण है।⁶ यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पारमाथिक प्रत्यक्ष की ज्ञेय प्रक्रिया में इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है, किन्तु आत्म-प्रदेश देहाधिष्ठित है ऐसी अवस्था में शरीर के अंगोपांग उस ज्ञान प्राप्ति के साधन बनते है या नहीं? इस प्रश्न का समाधान हमें 'नंदी सूत्र' एवं 'षट्खण्डागम सूत्र' में प्राप्त होता है। वहां पर अवधिज्ञान की चर्चा के प्रसंग में इस विषय से संदर्भित महत्वपूर्ण चर्चा हुई है।

आत्मा शरीर के भीतर है और चेतना भी उसके भीतर है। इन्द्रिय चेतना की रश्मियां अपने-अपने नियत स्थानों के माध्यम से बाहर आती हैं तथा पदार्थ जगत् के

तुलसी प्रज्ञा, लाडनू : खंड २३ अंक ४

साथ सम्पर्क स्थापित करती हैं। अतीन्द्रियज्ञान के लिए शरीर में कोई नियत स्थान नहीं है किन्तु शरीर का जो भी भाग, करण बन जाता है उसके द्वारा अतीन्द्रिय चेतना का प्रकटीकरण हो जाता है।

अवधिज्ञान के लिए कोई एक नियत प्रदेश या चैतन्य केन्द्र शरीर में नहीं है। अवधि ज्ञान की रश्मियों के बाहर आने के लिए शरीर के विभिन्न प्रदेश या चैतन्य केन्द्र साधन बनते हैं।

‘नदी सूत्र’ में आनुगामिक अवधिज्ञान के दो भेद किये गये हैं—अंतगत और मध्यगत। अन्तगत अवधि वहां पर तीन प्रकार का निर्दिष्ट है—पुरतः अन्तगत, मार्गत (पृष्ठतः) अन्तगत एवं पार्श्वतः अन्तगत।^{१०} अवधिज्ञान के ये भेद ज्ञाता, शरीर के जिस प्रदेश से देखता है उसके आधार पर किये गये हैं। अन्तगत अवधिज्ञान की रश्मियां शरीर के पर्यंतवर्ती (अग्र, पृष्ठ और पार्श्ववर्ती) चैतन्य केन्द्रों के माध्यम से बाहर आती हैं। पुरतः, मार्गतः एवं पार्श्वतः अवधिज्ञान के भेद एवं नामकरण शरीर के आधार पर हुए हैं। शरीर के जिस भाग से अवधिज्ञान की रश्मियां निकलती हैं उसका वही नाम दे दिया गया है। मध्यगत अवधिज्ञान की रश्मियां शरीर के मध्यवर्ती चैतन्य केन्द्रों-मस्तक आदि से बाहर निकलती हैं।

सर्व आत्म प्रदेशों में आवरण विलय से विशुद्धि होने पर भी जो औदारिक शरीर की एक दिशा से देखता है, वह अन्तगत अवधिज्ञान है।^{११} उसके तीन भेद हैं—

१. पुरतः अन्तगत अवधिज्ञान औदारिक शरीर के आगे के भाग से ज्ञेय को प्रकाशित करता है।
२. मार्गतः अन्तगत—जो ज्ञान शरीर के पीछे के प्रदेश से ज्ञेय को प्रकाशित करता है।
३. पार्श्वतः अन्तगत—जो अवधिज्ञान शरीर के एक पार्श्व अथवा दोनों पार्श्वों से पदार्थों को प्रकाशित करता है।

मध्यगत अवधिज्ञान—जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञाता चारों ओर से पदार्थों का ज्ञान करता है वह मध्यगत अवधिज्ञान है। औदारिक शरीर के मध्यवर्ती स्पर्धकों की विशुद्धि, सब आत्मप्रदेशों की विशुद्धि अथवा सब दिशाओं का ज्ञान होने के कारण यह मध्यगत अवधिज्ञान कहलाता है।^{१२}

एक दिशा में जाननेवाला अवधिज्ञान अन्तगत अवधिज्ञान है। सब दिशाओं से जानने वाला अवधिज्ञान मध्यगत अवधिज्ञान है।^{१३} ‘षट्खण्डागम’ के एक क्षेत्र और अनेक क्षेत्र अवधिज्ञान की तुलना अन्तगत एवं मध्यगत अवधि ज्ञान से की जा सकती है। जिस अवधिज्ञान का करण जीव के शरीर का एक देश होता है वह एक-देश अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान प्रतिनियत क्षेत्र की वर्जना कर शरीर के सब अवयवों में रहता है वह अनेक क्षेत्र अवधिज्ञान है।^{१४}

अवधिज्ञान के प्रसंग में आगत-अन्तगत एवं मध्यगत ये दोनों शब्द शरीर में स्थित चैतन्य केन्द्रों के गमक हैं। अप्रमाद के अध्यवसाय को जोड़ने वाले शरीरवर्ती साधन को चक्र या चैतन्य केन्द्र कहा जाता है।^{१५} इन कर्म विवरों (चैतन्य केन्द्र) से ही

अतीन्द्रिय ज्ञान की रश्मियां बाहर निकलती हैं। शरीर का जो स्थान करण/चैतन्य केन्द्र बन जाता है उसी के माध्यम से ज्ञान रश्मियां बाहर निकलती हैं। जीव प्रदेशों के क्षायोपशमिक विकास के आधार पर चैतन्यकेन्द्रमय शरीर प्रदेशों के अनेक संस्थान बनते हैं। 'षट्खण्डागम' में इसका स्पष्ट उल्लेख है। क्षेत्र की अपेक्षा से शरीर प्रदेश अनेक संस्थान में संस्थित होते हैं। जैसे—श्रीवत्स, कलश, शंख, स्वस्तिक, नंदावर्त आदि। " भगवती सूत्र में भी विभंग ज्ञान संस्थानों का उल्लेख किया गया है। उसमें अनेक संस्थानों के नाम उपलब्ध हैं। जैसे—बृषभ का संस्थान, पशु का संस्थान पक्षी का संस्थान आदि।" अवधिज्ञान एवं विभंगज्ञान दोनों शरीरगत संस्थान होते हैं—यह मत निर्विवाद है।

अवधिज्ञान के प्रसंग में 'षट्खण्डागम' में करण शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रसंग में करण शब्द का अर्थ है—शरीर का अवयव, शरीर का एक भाग जिसके माध्यम से अवधिज्ञानी पुरुष विषय का अवबोध करता है। " शरीर में कुछ विशिष्ट स्थान होते हैं जहां चेतना सघनता से रहती है। यह सिद्धांत अनेक ग्रन्थों में स्वीकृत है। 'सुश्रुत संहिता' में २१० संधियों और १०७ मर्म-स्थानों का उल्लेख प्राप्त है। " अस्थि, पेशी और स्नायुओं का संयोगस्थल 'संधि' कहलाता है। मर्म-स्थानों में प्राण की बहुलता होती है। इसीलिये वे अवयव, मर्मस्थान कहलाते हैं।" चैतन्य केन्द्र इन्हीं मर्म स्थानों के भीतर है। हठयोग में भी प्राण और चैतन्य प्रदेशों की सघनता के स्थल ध्यान के आधार रूप में सम्मत है। जैन साधना पद्धति के रूप में विख्यात 'प्रिक्षाध्यान' में भी शरीर के कुछ विशिष्ट स्थानों को चैतन्य केन्द्र के रूप में स्वीकृत किया गया है।" उन केन्द्रों पर ध्यान करने से वृत्तियों के परिमार्जन के साथ-साथ अतीन्द्रिय ज्ञान शक्ति का विकास होता है। यह अनुभूत तथ्य/सत्य है।

'नंदी', 'पंच संग्रह', 'गोम्मटसार' आदि ग्रन्थों में अवधिज्ञान के उत्पत्ति क्षेत्र की चर्चा की गयी है। 'पंचसंग्रह' एवं 'नंदी' के अभिमतानुसार तीर्थंकर नारकी एवं देवता को अवधिज्ञान सर्वांग से उत्पन्न होता है तथा मनुष्य एवं तिर्यंचों के शरीरवर्ती शंख, कमल, स्वस्तिक आदि करण चिह्नों से उत्पन्न होता है।" जैसे शरीर में इन्द्रिय आदि का आकार नियत होता है वैसे शरीरवर्ती चिह्नों का आकार नियत नहीं है। एक जीव के शरीर के एक ही स्थान में अवधिज्ञान का करण होता है—ऐसा कोई नियम नहीं है। किसी भी जीव के एक, दो, तीन आदि क्षेत्र रूप शंख आदि शुभ स्थान संभव है। ये शुभ स्थान अवधिज्ञानी, तिर्यंच एवं मनुष्य के नाभि के ऊपर के भाग में होते हैं तथा विभंग अज्ञानी तिर्यंच एवं मनुष्य के नाभि से नीचे अधोभाग में गिरगिट आदि आकार वाले अशुभ संस्थान होते हैं।" विभंगज्ञानियों के सम्यक्त्व आदि के फलस्वरूप अवधिज्ञान के उत्पन्न होने पर गिरगिट आदि अशुभ आकार मिटकर नाभि से ऊपर शंख आदि शुभ आकार हो जाते हैं। जो अवधिज्ञानी सम्यक्त्व के नाश से विभंगज्ञानी हो जाते हैं उनके शुभ संस्थान मिटकर अशुभ संस्थान हो जाते हैं।

अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में 'गोम्मटसार' के मन्तव्य से भी शरीरगत विशिष्ट अतीन्द्रिय केन्द्रों का बोध होता है। मनःपर्यव-ज्ञान की

उत्पत्ति आत्मा के उन प्रदेशों से होती है जिनका सम्बन्ध द्रव्यमन से है। पंडित मुखलालजी के अनुसार द्रव्यमन का स्थान हृदय है।^{१९} अतः हृदय भाग में स्थित आत्म प्रदेशों में ही मनः पर्यन्त ज्ञान का क्षयोपशम है। परन्तु शंख आदि शुभ चिह्नों की उत्पत्ति शरीर के सभी अंगों में हो सकती है। अतः अवधिज्ञान के क्षयोपशम की योग्यता शरीर में सर्वत्र है।^{२०} साधना के द्वारा जो क्षेत्र अधिक सक्रिय हो जाता है उसके माध्यम से ही अतीन्द्रिय ज्ञान की रश्मियों का निर्गम होता है। शरीर के स्थान विशेष अतीन्द्रियज्ञान के निर्गमन के पथ बन जाते हैं।

'योग दर्शन' में भी शरीर के विशिष्ट स्थानों पर एकाग्र होने से विशेष प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है— ऐसा उल्लेख है। वहां उल्लेख है कि सूर्य में संयम करने से भुवनज्ञान होता है।^{२१} नाभिचक्र में संयम करने से शारीरिक संरचना का ज्ञान हो जाता है।^{२२} ऐसे अनेक वर्णन वहां प्राप्त हैं।

कुछ परामनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य का मस्तिष्क रहस्यों के तंतुजाल से बना एक करिश्मा है। वह अपनी एकाग्रता का विकास कर ग्रहण और प्रेषण की कई ऐसी क्षमताओं को उजागर कर सकता है जो इन्द्रिय बोध की मर्यादा में नहीं आती। कुछ परामनोवैज्ञानिकों की अवधारणा है कि हमारे शरीर से उत्सर्जित एवं विकीरित बायोप्लाज्मा एनर्जी या साइकोट्रॉनिक एनर्जी अतीन्द्रिय शक्तियों का आधार है। ध्यान, साधना आदि के द्वारा इनकी लयबद्धता को विकसित कर विशिष्ट बोध क्षमता का विकास किया जा सकता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार अतीन्द्रियज्ञान का आधार मनुष्य की छठी इन्द्रिय है। यह इन्द्रिय कोशिकाओं के एक-एक छोटे समूह के रूप में मस्तिष्क के नीचे रहती है, जो हर व्यक्ति में समान रूप से सक्रिय नहीं होती। ध्यान, साधना, अभ्यास, मनन आदि के द्वारा उत्पन्न आध्यात्मिक एकाग्रता इसकी सक्रियता को वृद्धिगत करती है।

कुछ विचारकों के अनुसार हमारे मनः संस्थान का केवल ९% भाग ही जाना जा सका है। शेष ९१% भाग जिसे डार्क एरिया कहा जाता है, वही अतीन्द्रिय क्षमताओं का निवास स्थान है। तालुतल से जीभ का स्पर्श कर मस्तिष्क की प्रसुप्त एवं अविज्ञात शक्तियों को जागृत एवं प्रदीप्त किया जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसे पिच्युटरी और पिनीयल का स्थान कहा जा सकता है। शरीर विज्ञान के अनुसार केन्द्रिय नाड़ी तन्त्र का भाग अतीन्द्रिय ज्ञान की क्षमता का धारक हो सकता है। नाड़ी-तन्त्र का वह भाग जहां ग्रन्थियों का निवास है, अतीन्द्रिय ज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पूरे शरीर में चैतन्यकेन्द्र अवस्थित हैं। साधना के तारतम्य के अनुसार जो चैतन्यकेन्द्र जागृत होता है उसीमें से अतीन्द्रियज्ञान की रश्मियां बाहर निकलने लगती हैं। यदि पूरे शरीर को जागृत कर लिया जाता है तो पूरे शरीर में से अतीन्द्रिय ज्ञान की रश्मियां निकलने लगती हैं।^{२३} कभी-कभी बिना साधना के ही चोट आदि लगने से भी, शरीर का कोई ही प्रदेश अतीन्द्रिय चेतना का वाहक बन जाता है। इस प्रकार चैतन्य केन्द्र का विषय साधना की दृष्टि से बहुत

महत्वपूर्ण है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पूरे शरीर में व्याप्त होती है किन्तु उसके प्रदेश या चैतन्य की सघनता एक जैसी नहीं होती। शरीर के कुछ भागों में चैतन्य सघन होता है और कुछ भागों में विरल। अतीन्द्रियज्ञान शक्ति विकास और आनन्द की अनुभूति के लिए उन सघन क्षेत्रों की सक्रियता सबके लिए बहुत महत्वपूर्ण है।^{२१} इस दृष्टि से यह विषय पर बहुत मननीय है। अपेक्षा है इस विषय पर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की अवधारणाओं के साथ विमर्श किया जाए जिससे ज्ञान के गूढ रहस्यों का व्यवहार जगत में सलक्ष्य प्रयोग हो सके।

सन्दर्भ

१. तत्त्वार्थ सू. १/९।
२. वही. १/११।
३. न्याय कणिका—'साहाय्यापेक्षं परोक्ष'। ३/१।
४. तत्त्वार्थ सू. १/१२।
५. न्याय कणिका २/४।
६. अन्ययोग व्यवच्छेदिक गा. ९—यत्रैव यो दृष्ट गुण स तत्र.....।
७. नंदी सू. १०/११।
८. नंदी चू. पृ १६।
९. वही-पृ. १६।
१०. नंदी सू. १६।
११. षट्खण्डागम, पुस्तक १३ पृ. २९४—जस्स ओहिणाणस्य जीवसरीरस्स एगदेसो करण होदि तमोहिणाणमेगक्खेत्तं णाम। जमोहिणाणं पडिणियदरवेत्तवज्जिय सरीर सव्वावयवेषु वट्टदि तमणेयक्खेत्तं णाम।
१२. अप्रमादाध्यवसायसंधानभूतं शरीरवतिकरणं चैतन्यकेन्द्रं चक्रमिति यावत्। आचारांग भाष्यम् सू. ५/२०।
१३. षट्खण्डागम, पु. १३ पृ. २९६—खेत्तदो ताव अणेयसंठाण संठिदा। सिरिवच्छ कलस संख सोत्थिय णंदावत्तादीणि संठाणाणि णादत्वाणि भवन्ति।
१४. भगवई ८/१०३—विभंगनाणे अणेगविहे.....नाणासंठाण संठिए पणत्ते।
१५. आचारांग भाष्यम् पृ. २४७—अवधिज्ञान प्रसंगे करणपदस्यार्थो भवति शरीरावयवा, शरीरैकदेशो वा यस्माद् अवधिज्ञानी विषयं जानाति।
१६. सुश्रुतसंहिता, शरीरस्थानम् ५/२६, ६/३१
१७. स्याद्वादमंजरी पृ. ७७—बहुभिरात्मप्रदेशैरधिष्ठिता देहावयवाः मर्माणि।
१५. प्रेक्षा सिद्धांत और प्रयोग पृ. ९८।
१९. (क) पंच संग्रह (संस्कृत) १/५८—
तीर्थं कृच्छ्रवाध्रदेवानां सर्वांगोत्थोऽवधिर्भवेत्।
नृतिरश्वां तु शंखाब्जस्वस्तिकाद्यङ्ग चित्तजम् ॥

२०. नदी सू. २२—

नेरइयदेवतित्थंकरा य, औहिस्सञ्जाहिरा हंति ।

पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति ॥

२० धवला १३/५, ५, ५८/२९६/१०—ण च एकस्स जीवस्स एककम्हि पदेसे औहिणाणकरणं होदित्ति णियमो अत्थि, एग दो तिण्णि-चत्तारि-पंच- ६ आदि खेत्ताणमेगजीवम्हि संखादि सुह संठाणाणं कम्हि वि संभवादो । एदाणि संठाणाणि तिरिक्ख-मणुस्साणं णाहीए उपरिमभागो होति, णो हेट्ठा सुहसंठाण मधोभागेण सह विरोहादो । तिरिक्खमणुस्सविहंग-णाणीणं णाहीए हेट्ठा सरडादि असुहसंठाणाणि होति त्ति गुरुवदेसो ण सुत्तमत्थि ।

२१. कर्मग्रन्थ, भाग १ पृ. १११

२२. गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ४४१

सत्त्वंग अंगसंभवविणहादुप्पज्जदे जहा ओही ।

मणपज्जवं च दव्वमणादो उपज्जदे णियमा ॥

२३. पातञ्जल योग सूत्र. ३/२६—'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' ।

२४. वही. ३/२९—'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।

२५. जैन परामनोविज्ञान पृ. ४१ ।

२६. अपना दर्पणः अपना बिम्ब पृ. १२९ ।

—समणी मंगलप्रज्ञा

जैन त्रिषव भारती संस्थान

लाडनूं

धारणा : एक संक्षिप्त विमर्श

साध्वी भृत्यशा

जैनदर्शन में अत्यन्त प्राचीनकाल से पञ्चविध ज्ञान विभाग की परम्परा है। ज्ञान के पांच प्रकारों में मतिज्ञान का क्षेत्र सर्वाधिक व्यापक है क्योंकि अल्पतम ज्ञान चेतना के विकास में भी यह ज्ञान विद्यमान रहता है। इन्द्रिय और मन के निमित्त से आविर्भूत होने वाला यह प्रथम ज्ञान सर्वज्ञता के पूर्ववर्ती प्रथम क्षण तक विद्यमान रहता है। मतिज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है। वह एक नियतक्रम से होता है। यद्यपि अभ्यस्त दशा में हमें उस क्रम का अवबोध नहीं होता। इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान का अन्तिम क्षण है धारणा (Retention)। प्रस्तुत लघु निबंध में उसी के विषय में कुछ विमर्श अभीप्सित है।

अवाय के द्वारा गृहीत अवबोध का चेतना के किसी बल पर इतनी गहराई से प्रतिबिम्बित होना कि वह स्मृति के रूप में परिणत हो सके—धारणा है। वह ज्ञानांश जो धारण करके रखा जा सके, चित्त को वासित कर सके—धारणा की कोटि में आता है। हमारा स्मृतिकोष उतना ही समृद्ध बनता है जितना हमारा धारणा-बल पुष्ट होता है। धारणा समनस्क प्राणियों का विशेषाधिकार है क्योंकि सामान्यतः मनः-पर्याप्ति के अभाव में असंजी प्राणियों का इन्द्रिय प्रत्यक्ष अवाय तक आते-आते अवरुद्ध हो जाता है।

धारणा इन्द्रिय प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का चतुर्थ अंग है। अवाय द्वारा निर्णीत अर्थ को इस प्रकार धारण करना कि वह कालांतर में भी याद किया जा सके, धारणा है। 'आवश्यक निर्युक्ति' से भी इसी अर्थ की सम्पुष्टि होती है।^१ आवश्यक चूर्णिकार के अनुसार अवग्रह आदि के द्वारा ज्ञात अर्थ को धारण करना तथा अन्य किसी समय में उमका पुनः स्मरण करना धारणा है।^२ जिनभद्रगणि के अनुसार धारणा का अर्थ है—निर्णीत अर्थ की अविच्युति।^३ तन्दी चूर्णिकार के अनुसार अवगत अर्थ का च्युत न होना धारणा है।^४ इस प्रकार उन्होंने धारणा के स्मृति अंश को प्रधानता दी है—यह कहा जा सकता है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने धारणा को परिभाषित करते हुए कहा कि अर्थ विशेष को धारण करना धारणा है। इसके तीन रूप होने हैं—अविच्युति, स्मृति एवं वासना। यह जिनभद्रगणि द्वारा प्रस्तुत—अविच्युति, वासना एवं स्मृति का ही अनुसरण है मात्र क्रमभेद है।^५ पूज्यपाद ने भी धारणा को अविस्मृति का कारण माना है।^६ किन्तु वह कारणरूप संस्कार ज्ञानात्मक होने से जिनभद्रगणि की व्याख्या से भिन्न है। अकलंक, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी

तुलसी प्रज्ञा, लाडनू : खंड २३ अंक ४

इसका अनुसरण किया है। तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार धारणा के तीन रूप हैं प्रतिपत्ति, मत्त्यवस्थान एवं अवधारण। अतः धारणा उपयोग का वह परिपाकांश है जिसमें अवेत अंश के उपयुक्त और अनुपयुक्त दोनों अवस्थाओं का सन्निवेश हो जाता है। सिद्धसेनगणि ने प्रस्तुत प्रसंग में इन तीनों अवस्थाओं की विस्तृत व्याख्या की है। उनके अनुसार धारणा की प्रथम अवस्था प्रतिपत्ति है। जिसमें अवेत अर्थ (निर्णीत विषय) निरन्तर उपयोग में रहता है। उपयोग से च्युत होने के बाद निर्णीत अर्थ का शक्ति के रूप में अवस्थित रहना मत्त्यवस्थान है। और कालांतर में उसी का अवलम्बन लेकर ज्ञान का उदय होना अवधारण है।^{१०} प्रतिपत्ति की तुलना विशेषावश्यक भाष्यगत अविच्युति तथा नन्दीसूत्रगत धारणा से की जा सकती है।

स्वामी वीरसेन एवं मलयगिरि के अनुसार अवेत अर्थ को कालांतर में न भूलने का कारणभूत ज्ञान धारणा है।^{११} कनिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र ने धारणा को स्मृति का हेतु (परिणामी कारण) बताते हुए क्षमाश्रमण के मत की समीक्षा की है।^{१२} उनके अनुसार अविच्युति वस्तुतः दीर्घतर अवाय ही है अतः वह अवाय से भिन्न नहीं। और स्मृति परोक्ष प्रमाण होने से धारणा नहीं हो सकती क्योंकि धारणा सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष है।^{१३} इन सब परिभाषाओं के आधार पर धारणा के निम्नांकित लक्षण प्रकट होते हैं—

- ० धारणा आभिनिबोधिक ज्ञान का अंतिम चरण है।
- ० इसमें वस्तुतः कोई नया ज्ञान नहीं होता, बल्कि ज्ञात या निर्णीत अंश का अवधारण किया जाता है।
- ० धारणा में इंद्रियों की भूमिका गौण और मस्तिष्क की भूमिका प्रमुख होती है। मनोविज्ञान के अनुसार यह एक जटिल मंत्रचनात्मक प्रक्रिया है।
- ० धारणा अवाय के बाद होने वाली ज्ञातांश की परिपक्वता होने के कारण सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष है और स्मृति-परोक्ष प्रमाण का कारणांश भी है अतः इसे दोनों प्रमाणों का सेतु या सीमांत कहा जा सकता है।

धारणा का कालमान

निर्युक्ति एवं नन्दी में धारणा का काल-असंख्यात और संख्यात काल बताया गया है। इस विषय में उन्होंने धारणा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की पृथक् विवक्षा नहीं की। सामान्यतः देखा जाता है कि जब किसी बात को सीखा जाता है, किसी तथ्य को ग्रहण किया जाता है तो वह एक बार अवमृहीत हो जाता है लेकिन चेतन मन में उसकी अवस्थिति सुदीर्घ नहीं होती। जब कोई निमित्त मिलता है तब उसके संस्कार पुनः अवबुद्ध हो जाते हैं। यह इस तथ्य का सूचक है कि वह चेतन मन में व्यक्त रूप में अवस्थित नहीं थी, किन्तु उसकी अवचेतन या अचेतन मन में उपस्थिति अवश्य थी। चेतन मन में अवस्थिति को जैन परिभाषिकों के अनुसार उपयोग अवस्था एवं सुषुप्त संस्कारों को अनुपयोग अवस्था के रूप में समझा जा सकता है। ज्ञात अर्थ की इन विभिन्न चैतसिक अवस्थाओं के आधार पर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने निर्युक्तिगाथा

का भाष्य करते हुए बताया कि धारणा का संख्यातकाल एवं असंख्यातकाल वस्तुतः वासना की अपेक्षा से है।¹¹ उनके अनुसार उपयोग सातत्य रूप अविच्युति जो धारणा का प्रथम भेद है, अन्तर्मुहूर्तकाल की होती है, वासना-प्रबोध से होने वाली स्मृति भी उपयोग रूप है, छद्वास्थिक उपयोग का काल अन्तर्मुहूर्त है, अतः स्मृति भी आंत-मौहूर्तिकी होती है, वासना तद्दावरणाय कर्मों का क्षयोपशम है। यह यावज्जीवन भी हो सकती है और अल्पकालिक भी, इसलिये वासना का काल आयुष्य के समान दो प्रकार का होता है --

१. संख्यात काल --

जिस समयावधि की गणना, मास, ऋतु, वर्ष आदि के द्वारा हो सके वह संख्यातकाल है, सामान्यतः वर्तमानकालीन मनुष्यों व तिर्यञ्चों की आयु संख्यातकाल की होती है अतः उनकी वासना-धारणा भी संख्यातकालिक होती है।

२. असंख्यातकाल --

जिस काल की गणना मास, ऋतु, वर्ष आदि की संख्या से नहीं की जा सकती अथवा जिसे उपमाओं के द्वारा अभिव्यक्त किया जाए वह असंख्यातकाल कहलाता है, जैसे पल्योपम, सागरुपम आदि देवता, नारकी के समान कुछ क्षेत्र विशेष तथा समय विशेष में होने वाले मनुष्यों एवं तिर्यञ्चों की आयु भी उपमेयकाल (असंख्यातकाल) की होती है, ऐसे असंख्यात वर्णायुष्क प्राणियों की वासना भी असंख्यातकाल की हो सकती है। चूणिकार जिनदास ने अविच्युति का काल जघन्यतः असंख्यात समय एवं उत्कर्षतः अन्तर्मुहूर्त कहा है।¹² आचार्य हरिभद्र एवं मलयगिरि ने भाष्य का अनुसरण किया है।¹³ स्वामी वीरसेन के अनुसार धारणा का यह कालमान—संख्यात-असंख्यात काल ही कोष्ठबुद्धि का आधार है।¹⁴

धारणा के प्रकार --

अर्थावग्रह, ईहा और अवाय के समान धारणा के भी छह प्रकार होते हैं—

१. श्रोत्रेन्द्रिय धारणा २. चक्षुरिन्द्रिय धारणा ३. घ्राणेन्द्रिय धारणा ४. रसनेन्द्रिय धारणा ५. स्पर्शनेन्द्रिय धारणा ६. नोइन्द्रिय धारणा।

धारणा के इन छह प्रकारों के विषय में सम्पूर्ण जैनवाङ्मय में कोई मतभेद नहीं है।

अवग्रह, ईहा एवं अवाय के समान धारणा के पर्यायवाची नामों की भी तीन धाराओं का उल्लेख किया जा सकता है। धारणा के पर्यायवाची नामों की एक शृंखला नन्दीसूत्र में उपलब्ध होती है जिसकी व्याख्या जिनदासगणी, हरिभद्रसूरि एवं मलयगिरि ने की है। दूसरी परम्परा को षट्खण्डागम सूत्रीय या दिगम्बर परम्परा कहा जा सकता है जिसकी व्याख्या धवला में स्वामी वीरसेन ने की है तथा तीसरी परम्परा तत्त्वार्थभाष्य में उपलब्ध होती है, जिसे सिद्धसेनगणी ने अपनी भाष्यानुसारिणी टीका में उद्धृत किया है।

नन्दीसूत्र में धारणा के जिन पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख किया गया उनमें

ज्ञान परम्परा के क्रमिक विकास के चरण निहित हैं, अतः उनका विशेष महत्व है—

१. धरणा—

अवाय के पश्चात् यथावत् रूप में ज्ञात अर्थ को निरन्तर धारण करना धरणा है, यह धारणा की प्रथम अवस्था है जिसमें उपयोग से अर्थ च्युत नहीं होता। इसका काल-मान अन्तर्मुहूर्त है।^{१४} इसकी तुलना तत्त्वार्थभाष्यगत प्रतिपत्ति और विशेषावश्यक-भाष्यगत अविच्युति से की जा सकती है।

२. धारणा—

अवाय के द्वारा ज्ञात अर्थ एक समयावधि के बाद अनुपयोग की अवस्था में चला जाता है फिर भी आवश्यकतानुसार पुनः स्मरण कर लिया जाता है, ज्ञान के अवस्थान की यह अवधि जिसका कालमान अन्तर्मुहूर्त से लेकर दिनों तक का है, वह धारणा है।^{१५} हरिभद्र के अनुसार भी धारणा वह ज्ञानोपयोग है जो अन्तर्मुहूर्त से लेकर असंख्येय काल तक अवधि के बाद भी ज्ञात अंश के स्मरण का कारण बनता है।^{१७}

३. स्थापना—

जिनदासगणी के अनुसार स्थापना वह धारणांश है जिसमें अवाय के द्वारा अव-धारित अर्थ को पूर्वापर आलोचना के साथ हृदय में स्थापित कर दिया जाता है, उन्होंने उसे पूर्णघट के दृष्टांत से समझाया है।^{१६} हरिभद्र ने भी स्थापना को चूर्णिकार के समान ही व्याख्यायित किया पर दृष्टांत में 'पूर्ण घट' के स्थान पर 'मूर्त घट' शब्द का प्रयोग किया है।^{१६} हरिभद्र ने दृष्टांत के विषय में परिवर्तन क्यों किया तथा इसका क्या आधार रहा— इस विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता, उन्होंने स्थापना का एक अर्थ वासना भी किया है जो उन पर जिनभद्रगणी का प्रभाव परिलक्षित करता है, उन्होंने एक मतांतर का भी उल्लेख किया है। जिसमें धारणा एवं स्थापना का स्वरूप प्रस्तुत स्वरूप से व्यत्यय रूप में प्रतिपादित हुआ है।^{२०}

प्रस्तुत सन्दर्भ में हृदय शब्द विशेष विमर्श की अपेक्षा रखता है, यहां इसका वाच्यार्थ वक्षस्थलमध्यवर्ती हृदय न होकर मस्तिष्क मध्यवर्ती हाइपोथेलमस होना चाहिये क्योंकि आधुनिक ज्ञान एवं मनोविज्ञान के अनुसार हमारी ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त संवेदनाएं मस्तिष्क के विभिन्न केन्द्रों में संगूहित रहती हैं, हृदय में नहीं, हाइपोथेलमस को मस्तिष्क का हृदय भी कहा जा सकता है।^{२१}

४. प्रतिष्ठा—

स्थापित अर्थ का भेद-प्रभेद के साथ प्रतिष्ठापन करना प्रतिष्ठा है। चूर्णिकार ने इसे 'जल में उपल-प्रक्षेप' के उदाहरण से समझाया है।^{२२} हरिभद्र ने भी इसी का अनुकरण किया है।^{२३}

५. कोट्टा—

प्राचीनकाल में शालि आदि अनाजों की सुरक्षा के लिये कोठे का प्रयोग होता था। कोठे में रखा गया धान चिरकाल तक खराब नहीं होता था। उसी प्रकार अव-धारित अर्थ को स्मृति-प्रकोष्ठों में अविनश्वर रूप में धारण कर रखना कोठ या कोठा

कहलाता है ।^{२५} हरिभद्र ने भी सूत्रार्थ रूपी बीजों को अविनश्वर रूप से धारण करने के कारण धारणा को कोष्ठक कहा है ।^{२५}

वस्तुतः स्मृति का परिणामी कारण यह कोष्ठक ही होना चाहिये । जिसकी धारणा शक्ति जितनी प्रबल होती है उसकी स्मृति भी उतनी ही तेज व स्थिर होती है । शब्द-कोष के अनुसार धारणक्षम बुद्धि को मेधा कहा जाता है—'सा मेधा धारणक्षमा ।^{२६} देव वाचक ने मेधा को अवग्रह तथा बुद्धि को अवाय के पर्याय रूप में उल्लिखित किया है ।^{२७} इन दोनों अवधारणाओं के सन्दर्भ में मेधा एवं बुद्धि शब्द के अर्थ की उत्कर्ष यात्रा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । साथ ही यह भी स्पष्ट है कि स्मृति के परिणामी कारण के परिप्रेक्ष्य में शाब्दिकों की मेधा से नन्दी सूत्रीय कोष्ठा की तुलना में कोई आपत्ति नहीं ।

आधुनिक परामनोविज्ञान में पूर्वजन्म की स्मृति के विषय में महत्त्वपूर्ण अनुसंधान कार्य चल रहा है । पूर्वजन्म की स्मृति एवं उससे प्राप्त होने वाली सूचनाओं की अविस्मयिता के आधार पर आत्मा एवं कर्म सिद्धांत की सिद्धि संभव है । एक या दो जन्म तक ही नहीं, जोय बर्वे नामक एक बालिका ने अपनी नौ जन्मों तक की स्मृति की चर्चा करके मनोवैज्ञानिकों के समक्ष बहुत कुछ चिंतन एवं अनुसंधान का अवकाश प्रदान कर दिया है ।^{२८} जैन दर्शन बहुत प्राचीनकाल से ही जातिस्मृति ज्ञान के अस्तित्व में विश्वास करता रहा है, उसके अनुसार जातिस्मृति, मतिज्ञान का एक प्रकार है जिसके द्वारा निरन्तर नौ जन्मों और उन जन्मों में यदि जाति स्मृति या अवधिज्ञान हुआ हो तो उस आधार पर अनगिनत जन्मों की घटनाओं को व्यक्ति साक्षात् जान सकता है । जाति स्मृति का उपादान कारण है धारणा । धारणा जिसकी चिरस्थायी होती है, प्रतिष्ठा एवं कोष्ठा बुद्धि का जितना विकास होता है, जाति स्मृति की संभावनाएं उतनी ही अधिक हो जाती हैं, पूर्वजन्म में अनुभूत वस्तुओं, परिचित व्यक्तियों आदि को देखकर, तत्सदृश घटनाओं, नृत्य आदि के कारण जब व्यक्ति ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करता है तो लेश्या विशुद्धि, चित्त की एकाग्रता एवं संस्कार-प्रबोध से जातिस्मरण ज्ञान हो जाता है । जैन शास्त्रों में इसकी सुविस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है । योग दर्शन एवं बौद्ध दर्शन में भी जातिस्मृति ज्ञान को स्वीकार किया गया है ।

योगदर्शन के अनुसार संस्कार चित्त के अपरिदृष्ट धर्म हैं, वे घटादि दृश्य पदार्थों के समान सभी को दिखायी नहीं देते, वे पूर्वजन्मों में निष्पादित होते हैं, जब उनमें संयम किया जाता है तो उनका साक्षात्कार होता है । संस्कारों के साथ तत्सम्बन्धी देश, काल, निमित्त आदि का भी साक्षात्कार होता है, इससे पूर्वजन्म का ज्ञान होता है ।^{२९}

पूर्व-पूर्व जन्मों में संचित प्रबल संस्कारों में मानवीय आकार, इन्द्रिय, मन आदि की धारणा करके उसमें समाधिबल से यदि ज्ञानशक्ति को पूंजीभूत किया जाए तो संस्कार अपने विशेषणों से युक्त होकर सम्यक् रूप से विज्ञात हो जाते हैं कि वे कहां, किस जन्म में, किस रूप में संचित और चित्त पर समारूढ़ हुए थे फलतः तत्सम्बन्धी

जन्म भी स्मृति पथ पर आ जाते हैं ।

भाष्यकार ने जाति स्मृति सम्बन्धी जैगीषव्य का संवाद भी उद्धृत किया है । भगवान् जैगीषव्य को दस महासर्गों के सभी जन्म परिणामक्रम ज्ञात हो गये थे ।

वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु दोनों इस बात में तो सहमत हैं कि देश, काल और निमित्त इन तीनों अनुबंधों से युक्त संस्कार ही पूर्वजन्म के अपरोक्ष ज्ञान के हेतुभूत हैं पर सूत्र के भाष्यगत 'परत्र' शब्द के अर्थ में मतभेद है । मिश्र के मतानुसार योगी स्वयं के पूर्व जन्मों के समान अन्य व्यक्ति के पूर्व जन्मों का साक्षात्कार कर सकता है ।³⁰ जबकि विज्ञानभिक्षु के अनुसार परत्र शब्द भावी जन्मों के ज्ञान का सूचक है ।³¹

बौद्ध दर्शन के अनुसार षडभिज्ञा में चतुर्थ अभिज्ञा का नाम है—पूर्वनिवासानु-स्मृति ज्ञान । इस ज्ञान के द्वारा व्यक्ति अपने एक या अनेक पिछले जन्मों का यथार्थ स्मरण कर लेता है । बौद्धमत के अनुसार इसकी उत्कृष्ट सीमा अनेक संवृतकल्प और विवृतकल्प है । इसके द्वारा उस जन्म में स्वयं के नाम, वंश, जाति, सुख-दुःख के अनु-भव आदि सम्पूर्ण जीवन-विवरण को जाना जा सकता है ।³²

षट्खण्डागम में धारणा के पांच पर्यायवाची नाम उपलब्ध होते हैं । स्वामी वीर-सेन ने उनका स्पष्टीकरण निम्नांकित रूप से किया है ।

१. धरणी - जिस प्रकार पृथ्वी, गिरि, सरिता आदि को धारण करती है उसी प्रकार निर्णीत अर्थ को धारण करना धरणी है ।

२. धारणा—अवेत अर्थ को जिसके द्वारा धारण किया जाता है वह धारणा है । धरणी और धारणा में कोई अर्थ संबंधी भिन्नता प्रतीत नहीं होती ।

३. स्थापना—जिसके द्वारा ज्ञात अर्थ की संस्कार रूप में स्थापना होती है ।

४. कोष्ठा—कोष्ठा का अर्थ है दुस्थली, जिसमें धान्य को सुरक्षित रखा जाता था । संस्कारों का कोष्ठा के समान संरक्षण का कार्य कोष्ठा है ।

५. प्रतिष्ठा—जिसमें अवधारित अर्थ को अविनश्वर रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है, वह प्रतिष्ठा है ।³³

षट्खण्डागम के एकार्थक नामों की नन्दी सूत्र से तुलना की जा सकती है पर ज्ञान प्रक्रिया के क्रमिक विकास का जो निरूपण नन्दी चूर्ण एवं टीका द्वय में उपलब्ध होता है । ध्वला में उसका अभाव है, तत्त्वार्थभाष्य में धारणा की तीन क्रमिक अवस्थाओं—प्रतिपत्ति, मत्यवस्थान और अवधारणा का निर्देश करने के पश्चात् प्रत्येक के क्रमशः निश्चय, अवगमन और अवबोध—इन पर्यायों का निर्देश किया गया है । इसकी तुलना विशेषावश्यक भाष्यगत अविच्युति, वासना और स्मृति से की जा सकती है । इस प्रकार के पर्यायवाची नामों को निम्नलिखित तालिका द्वारा समझा जा सकता है—

तत्त्वार्थभाष्य	विशेषावश्यकभाष्य	नन्दीसूत्र	षट्खण्डागम
प्रतिपत्तिनिश्चय	अविच्युति	धारणा	धारणी
मत्यवस्थानअवगम	वासना	धारणा	धारणा

अवधारण अवबोध

स्मृति

स्थापना

स्थापना

—

—

कोष्ठा

प्रतिष्ठा

—

—

प्रतिष्ठा

कोष्ठा

धारणा की तुलना न्यायवैशेषिक दर्शन सम्मत धारावाहिक ज्ञान तथा संस्कार स्मरण एवं हीनयानीय बौद्ध दर्शन सम्मत जवन, जवनानुबन्ध एवं तदारम्भण पाक से की जा सकती है, उपाध्याय यशोविजयजी ने उसे परिपाकाण के रूप में मीमांसित किया है।^{३४}

धारणा-प्रमाण या अप्रमाण ?

धारणा मतिज्ञान का भेद है। आगमिक परिभाषा के अनुसार सम्यक्त्वी का सारा ज्ञान प्रमाण है। अतः धारणा के प्रामाण्य के विषय में प्राचीन युग में कोई ऊहापोह नहीं हुआ। प्रमाण व्यवस्था युग में प्रामाण्य का नियामक तत्त्व 'निर्णायकत्व' को मानने से अवग्रह और ईहा के प्रामाण्य पर प्रश्नचिह्न लगा और सिद्धसेनगणी ने उन्हें अप्रमाणघोषित कर दिया।^{३५} इसके विपरीत कई आचार्यों ने अवग्रह और ईहा में भी निर्णयांश या निर्णयाभिमुखता को स्वीकार कर उसके प्रामाण्य की स्थापना की क्योंकि अपनी कोटि का निर्णायक ज्ञान उनमें भी होता ही है। प्रामाण्य के निर्णायक तत्त्वों में जब अगृहीत-ग्राहित्व की चर्चा का समावेश होने लगा तब धारणा की प्रमाणता भी विमर्श का विषय बन गई। प्रतीत होता है कि बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति के प्रभाव से अनधिगतार्थग्राही ज्ञान की प्रमाणता की स्थापना करने वाली इस परम्परा के पुरस्कर्ता भट्ट अकलंक ही थे। माणिक्यनन्दी आदि आचार्यों ने भी उनका अनुकरण किया और दिग्म्बर आम्नाय में धारणा तथा धारावाहिक ज्ञानों की प्रमाणता पर आक्षेप की संभावना हुई। स्वामी वीरसेन ने इस विषय में अपनी स्वतंत्र सूक्त का परिचय देते हुए श्वेताम्बर आचार्यों के समान धारणा की प्रमाणता को स्वीकार किया। उनकी मुख्य युक्तियाँ हैं—

१. धारणा फलज्ञान है पर अप्रमाण नहीं ! यदि केवल हेतुज्ञान को ही प्रमाण माना जाए तो अवग्रह के अतिरिक्त सभी ज्ञान अप्रमाण हो जायेंगे।

२. धारणा अवाय का कार्य है पर इसे अप्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि सारे ज्ञान अपने पूर्ववर्ती ज्ञान के कार्य होने से अप्रमाण हो जायेंगे।

३. धारणा ज्ञान यदि गृहीतग्राही होने से अप्रमाण माना जाए तो युक्त नहीं क्योंकि अविस्मरण का हेतुभूत लिग उसने अपूर्व रूप में ग्रहण किया है।^{३६}

इस प्रकार धारणा के स्तर में गोचरज्ञान का पूर्ण विकाम हो जाता है। अवाय के स्तर में उपलब्ध निर्णय की धारणा से ही वह गोचर ज्ञान में बदल जाता है। और यही इस चतुर्थ चरण का वैशिष्ट्य है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष के ये चार चरण इस बात के स्पष्ट सूचक हैं कि ज्ञान एक ऐसी प्रणाली है जिसमें विभिन्न विषयों एवं विभिन्न प्रकार के निर्णयों का संयोजन, समायोजन होता है। परिणामस्वरूप जब कोई नया ज्ञानांश ग्रहण करना होता है तो उसकी प्रक्रिया में एक विकार पैदा होता है, चैतसिक जगत् में एक हलचल होती है और पूर्व

संग्रहीत ज्ञान के प्रकाश में उसकी पहचान-सत् असत् धर्मों का परीक्षण प्रारंभ होता है। परीक्षण के बाद हुआ निर्णय पुनः उस कोष में संग्रहीत हो जाता है।

कोष का उभयमुखी उपयोग है—आगामी ज्ञान की विकास यात्रा में तथा स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि उत्तरवर्ती ज्ञानांशों में। बोध के मनोविज्ञान की दृष्टि यह सम्पूर्ण चर्चा विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि ज्ञान में यदि धारणा की कोई उपयोगिता है तो इसके अन्तर्गत मस्तिष्क की याद करने की क्षमता का भी समावेश होना चाहिये। और याद करना तभी संभव होगा जब किसी नयी ग्रहण की गयी बात की पूर्वज्ञात तथ्य के साथ पहचान होगी। जैन दार्शनिकों ने मानव मस्तिष्क एवं उसकी क्षमताओं पर सूक्ष्मता एवं गहनता से विचार किया है। आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान के साथ उसकी तुलना और विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाए तो स्मृति विकास के क्षेत्र में नव्य संभावनाओं का अविर्भाव हो सकता है। □

संदर्भ

१. आवश्यक निर्मुक्ति गा० ३
२. आवश्यक चूर्ण पृ० ११
३. विशेषावश्यक भाष्य गा० १८०
४. नन्दी चूर्ण पृ० ३४ तत्त्वित्सेसावगतऽत्थस्स धरण^१—अविच्युती धारणा
५. विशेषावश्यक भाष्य गा० २९१
६. सर्वार्थसिद्धि १।१५ अनुच्छेद १११
७. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका १।१५ पृ० ८२, ८३
८. (क) धवला पुस्तक १३ पृ० २१८-१९
(ख) नन्दीमलयगिरीया वृ० प० १६८
९. प्रमाणमीमांसा १।१।२९
१०. वही
११. विशेषावश्यक भाष्य गा० ३३४
१२. नन्दी चूर्ण पृ० ४१
१३. (क) नन्दी हारिभद्रीया टीका पृ० ५७
(ख) नन्दी मलयगिरीया वृ० प० १६८
१४. धवला पुस्तक ९ पृ० ५३
१५. नन्दी चूर्ण पृ० ३७
१६. वही
१७. नन्दी हारिभद्रीया टीका पृ० ५१
१८. नन्दी चूर्ण पृ० ३७
१९. नन्दी हारिभद्रीया टीका पृ० ५१
२०. वही—वासनेत्यर्थः। अन्ये तु धारणास्थापनयोर्व्यत्ययेन स्वरूपमाचक्षते।
२१. अहिंसा और शांति प० १६२-६३
२२. नन्दी चूर्ण पृ० ३७

२३. नन्दी हरिभद्राया टीका पृ० ५१
 २४. नन्दी चूर्णि पृ० ३७
 २५. नन्दी हरिभद्राया टीका पृ० ५१
 २६. अभिधानचिन्तामणि २।२२३
 २७. नवसुत्ताणि नन्दी सू० ४३, ४७
 २८. जैन परामनोविज्ञान पृ० १६४-७१
 २९. पातंजलयोगदर्शन ३।१८—संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्
 ३०. तत्त्ववैशारदी पृ० १४७—स्वसंस्कारसंयमं परकीयेहवतिदिशति
 ३१. योगवार्तिक पृ० ३३३—उद्धृत पातंजलयोगविमर्श
 ३२. (क) मज्झिमनिकाय पालि ६।१।३
 (ख) दीघनिकाय पालि ५।२।१७
 ३३. धवला पुस्तक १३, पृ० २४४
 ३४. ज्ञानबिन्दुप्रकरणम् पृ० १५ अनुच्छेद ४७
 ३५. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका पृ० ८०
 ३६. धवला पुस्तक १३ पृ० २३३

—साध्वी श्रुतयशा

जैनों की सैद्धांतिक धारणाओं में क्रम-परिवर्तन ?

□ नंदलाल जैन

जैनधर्म और दर्शन के अध्ययन से ऐसा लगता है कि जन्मना जैन बने रहना अत्यंत सरल है, किन्तु कर्मणा जैन बन पाने का प्रयत्न ऊहापोह का शिकार बनता दिखता है। विभिन्न युगों में धर्म की परिभाषाओं के विकास का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यह क्रियाकांड, ज्ञानयुग, भक्तियुग एवं वैज्ञानिक युग के परिवर्तों से गुजरा है। इसमें सर्वजन हिताय से 'व्यक्ति हिताय' का चरण आया और अब फिर 'बहुजन हिताय' की भूलकियां दिखने लगी हैं। वस्तुतः धर्म का जो स्वरूप ज्ञानवादी और वैज्ञानिक युगों में निखरता दिखा है, उसने नयी पीढ़ी को आकर्षित किया है। इससे नई पीढ़ी की ओर परंपरावादियों की आंखें भी उठी हैं, पर वह उसकी परवाह किये बिना धार्मिक मान्यताओं का विश्लेषणात्मक परीक्षण करते हुए उसे व्यावहारिक और वैज्ञानिक रूप देने में लगी हुई है।

यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि अनेक धार्मिक संत और विद्वान धार्मिक सिद्धांतों की त्रैकालिक सत्यता एवं अपरिवर्तनीयता के मापदण्ड को आधार बनाकर उसमें वैज्ञानिकता, परिवर्तनशीलता या संवर्धनशीलता की उपेक्षा कर देते हैं। अभी एक पुस्तक प्रकाशित हुई है 'साइंटिफिक कन्टेंट्स इन प्राकृत कॅनन्स'। इसमें धार्मिक साहित्य में वर्णित विचार, आचार एवं घटनाओं में क्रम परिवर्तन, नाम भिन्नता, नाम एवं क्रम भिन्नता, संख्यात्मक एवं अवधारणात्मक भिन्नता तथा भौतिक निरीक्षणों की विविधता के तीस संबंध दिये हैं। यह भिन्नता परिवर्तन, संशोधन, विस्तारण या संक्षेपण की प्रतीक तो मानी ही जानी चाहिए। शास्त्र पारंगत विद्वानों से चर्चा करने पर यह मनोरंजक तथ्य सामने आता है कि वे उन भिन्नताओं को परिवर्तन मानने को तैयार ही नहीं लगते। आज का विद्यार्थी जानता है—जहां प्रवाह नहीं, वहां प्रगति नहीं। फिर भी, इन भिन्नताओं के परिप्रेक्ष्य में वे ज्ञान को प्रवाह रूप मानने को तैयार नहीं हैं। इसी कारण विश्वधर्म की क्षमता (प्रशास्ता, पवित्र पुस्तक, उत्तमता) रखने वाले जैन तंत्र के अनुयायी इस भूतल पर केवल ०.०४% ही बने हुए हैं। किसी भी तंत्र की प्रवाह-शीलता को न मानना उसकी प्रगति में बाधक ही सिद्ध होता है।

इसी पृष्ठ भूमि में कुछ ऐसे प्रकरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनसे यह प्रवाह अवरुद्ध या प्रगत हुआ होगा। यह अवरोध या प्रगति ही इस तंत्र की वैज्ञानिकता को व्यक्त करती है और इसके सिद्धांतों को विचारणीय परीक्षण के क्षेत्र में ला देती है। इन प्रकरणों में परिवर्तन का आधार क्या रहा होगा, और क्रम-परिवर्तन का क्या प्रभाव

तुलसी प्रज्ञा, लाहन् : खंड २३ अंक ४

पड़ा है, उसके संबंध में कुछ विचार-विदु यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं :-

१. ज्ञान-दर्शन-चारित्र या दर्शन-ज्ञान-चारित्र ?

आ० उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र का पहला सूत्र है—‘सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः’ । यहाँ श्रद्धापूर्वक दर्शन, ज्ञान और चारित्र को प्रशस्त माना गया है। यह तीसरी-चौथी सदी के प्रारंभ का ग्रंथ है। उसके पूर्ववर्ती स्थानांग (३.५०९ एवं ३.४८९) आदि सूत्रों के तथा षट्खंडागम के समान प्राचीन कर्मवाद के ग्रंथों में ज्ञान-दर्शन-चारित्र का क्रम बताया है। इस प्राचीन क्रम के परिवर्तन का आधार क्या हो सकता है ? क्या इसे बुद्धिवाद पर व्यक्तिवाद के प्रारंभ की विजय माना जाए जिसमें दर्शन के कारण (निःशक्ति अंग ?) ज्ञान पूर्वाग्रही हो जावे। दर्शन का पहला अंग ही जिज्ञासा शंका या संदेह का ऊर्ध्वगमन है। इसे बुद्धिवादी जगत् स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाता है। मुझ लगता है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र का क्रम अधिक वैज्ञानिक है। ज्ञानी की श्रद्धा भी बलवती होती है।

मन-वचन-काय या काय-वचन-मन ?

हम सभी प्रायः मन-वचन काय की चर्चा करते हैं। इससे प्रकट होता है कि सोचकर बोलो और करो। यह क्रम प्राचीन और आगमिक है। गुप्त, दंड, गर्हा आदि के प्रकार इसी क्रम के निरूपक हैं। स्थानांग (पेज १६१-६२) पर आ० उपास्वाति ने वहाँ भी क्रम परिवर्तन किया है—‘काय-वाङ्-मन कर्म योगः’। इस क्रम-परिवर्तन का आधार भी विचारणीय है। मन बड़ा है या काय ? क्रिया बड़ी है या विचारणा, जिसके आधार पर क्रिया की जाती है। कर्म के विकास आस्रव एवं कर्म बंध की अवधारणा को इतिहास के विकास की दृष्टि से आ. उमास्वाति परंपरावादी सिद्ध होते हैं क्योंकि जैनधर्म में कुंदकुंद के युग से पूर्व भी भाव या मन की प्रधानता या प्राथमिकता की चर्चा चल पड़ी थी। मन भावों, विचारों, आवेगों आदि का आधार है। क्या उमास्वाति मन की गौणता स्वीकार कर भक्तिवाद की प्रस्तावना के रूप में मन को अंतिम स्थान देते हैं ? बुद्धिवादी युग मनपूर्वक क्रिया का समर्थक है। पश्चिमी विचारक भी इस क्रम के व्यत्यय पर विचार करने लगे हैं। फलतः यह क्रम व्यत्यय विचारणीय है।

३. संरंभ-समारंभ-आरंभ या संरंभ-आरंभ समारंभ ?

कर्मवाद और कषायवाद जैनों के दो प्रमुख सिद्धांत हैं। माला के १०८ मणियों का आधार कषायवाद का विस्तार है—४×३×३×३ (संरंभ आदि)। इनमें संरंभ, समारंभ और आरंभ का क्रम आगमों में भिन्न है और दिगंबर ग्रंथों में भिन्न है। क्रम भिन्नता से किसी पद की अर्थ-भिन्नता भी हो गई है (समारंभ)। श्वेतांबर ग्रंथों में (स्थानांग ३.१६ या ७-८४-८९) यह क्रम निम्न है।

१ आरंभ, संरंभ, समारंभ (परिताप पश्चत्ताप) यहाँ क्रिया के आधार पर संकल्प के होने की सूचना है। साथही, यदि क्रिया अशुभ है, तो उसके लिये स्वाभाविक परिताप के मनोभाव होने का संकेत है। इस प्रकार, यहाँ कर्म-मन-मनोवेग

के आधार पर मन की अंतिम प्रमुखता बताई है। यह पूर्वोक्त आगमिक मान्यता के विपर्यास में लगती है एवं मन-काय के संबंध में प्रचलित दो परंपराओं का संकेत देती है। यह क्रम प्राक्षिप्त भी हो सकता है। इसके विपर्यास में, उमास्वाति ने (६-८ में) संरभ-समारंभ-आरंभ का क्रम दिया है (विचार, तैयारी और क्रिया) जो व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक तर्क संगत लगता है पर यहां भी, मन की मूलभूतता (६-१ के) मन की गौणता की तुलना में विचारणीय हो गई है। दिगंबर ग्रंथों का यह क्रम मन-वचन-काय के क्रम का प्रतिष्ठापक है जो (६-१ के) विपर्यास में है। यहां 'समारंभ' शब्द भौतिक क्रिया हेतु तैयारी के अर्थ में आया है, मनोवेगों के अर्थ में नहीं।

आगमों में मनः प्रधान (बुद्धिवादी) वर्णन है, अतः उनका क्रम बुद्धिवादी चिंतन कहा जा सकता है। परिणामजन्य मनोवेग जीवन में सुधार भी ला सकते हैं। उसके विपर्यास से दिगंबरों का क्रम व्यावहारिक अधिक है। इसमें शुभता की वृत्ति प्रच्छन्न ही है।

४. प्रदेश-प्रकृति-स्थिति-अनुभाग बंध या प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश बंध ?

आगमिक युग में एवं आ० कुंदकुंद के समय में कर्म-बंध के चार प्रकारों का क्रम प्रदेश, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग के रूप में रखा गया है। इसके विपर्यास में, षट्खंडागम एवं तत्त्वार्थ सूत्र में इस क्रम में व्यत्यय हुआ है (समयसार २९० कुंदकुंद भारती संस्करण, तत्त्वार्थ सूत्र ८-३)। वस्तुतः पहला क्रम अधिक वैज्ञानिक लगता है। बिना प्रदेशों की संख्या के कर्म प्रकृतियों का निर्माण कैसे हो सकता है? आ० विद्यानंद ने अपनी टीका में इस क्रम में किंचित् परिवर्तन व्यक्त किया है। इस व्यत्यय की व्याख्या अपेक्षित है।

सात तत्त्वों एवं नव पदार्थों का क्रम

आगमों और कुंदकुंद के ग्रंथों में नौ, दस, ग्यारह या बारह तक तत्व बताये गये हैं जिनका श्रद्धान और ज्ञान अतिशय चारित्र्य का कारण होता है। लेकिन इनका क्रम जैनेतर तत्त्वों के अधिक अनुरूप है और बौद्धों के चार आर्यसत्त्वों के विपर्यास में पंच-युगली सत्त्वों के अनुरूप है। क्या तत्व योजना जैनों की अपनी मौलिक नहीं है? इनके क्रमों में बंध-मोक्ष अंत में आते हैं। संभवतः जैन ज्ञानों के विकास का आधार अन्य तंत्रों की मान्यताएं रही हों। इनके प्राचीन क्रम पर इनका प्रभाव स्पष्ट व्यक्त होता है जैसा के. के. दीक्षित भी मानते हैं। इस क्रम के विपर्यास में आ० उमास्वाति का तत्त्वक्रम है जहां न केवल तत्व संख्या ही निर्धारित की गई है अपितु उनका क्रम भी परिवर्तित किया गया है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी इसे माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्वों का प्राचीन क्रम बौद्धिक दृष्टि से उतना मनोवैज्ञानिक और तर्कसंगत नहीं लगता। इसके विपर्यास में, उमास्वाति के क्रम में ये दोनों ही गुण पाये जाते हैं। यह व्यवस्थित भी है। उनके द्वारा इस क्रम परिवर्तन का आधार क्या रहा होगा, यह

विचारणीय है। वन्य व्यत्ययों के विपर्यास में, यह व्यत्यय उनके स्वतंत्रचेता होने का प्रचंड संकेत देता है।

६. बारह भावनाओं और दस सत्यों का क्रम

जैनों में अध्यात्मपथ की ओर बढ़ने के लिये ध्यान और भावनाओं का बड़ा महत्व है। विभिन्न ग्रंथों में उनके नामों और क्रमों में अंतर पाया जाता है। इनमें परिवर्तन भी पाया जाता है। स्थानांग (पेज. १२२) एवं राजवातिक के विवरणों से दस सत्यों के नाम, क्रम और अर्थभेद स्पष्ट हैं।

७. नयों का क्रम

जैनों में नय सिद्धांत का क्रमिक विकास हुआ है, ऐसा प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। बालचंद्र शास्त्री ने अपने ग्रंथ में (पेज १६७ पर) बताया है कि धवला (४/२) में नैगम, व्यवहार एवं संग्रह के रूप में नयों का क्रम है जबकि तत्त्वार्थ सूत्र (१.३३) में नैगम, संग्रह एवं व्यवहार नय का क्रम है।

८. इन्द्रिय और इंद्रिय विषयों का क्रम

जैन आचार-विचार में इन्द्रिय जय का प्रमुख स्थान है। इन्द्रियां मन की सहायता से राग-द्वेष का कारण और फलतः, कर्माश्रवण और कर्मबन्ध की स्रोत हैं। भगवती २.१, स्थानांग, १०.२३ और प्रज्ञापना १५.१ में इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषयों का क्रम श्रोत, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन के आधार पर दिया गया है। मूलाचार गाथा १०९१ में भी इन्द्रियों के आकार का वर्णन इसी आधार पर दिया गया है। इसके विपर्यास में, दिगंबर ग्रन्थों एवं तत्त्वार्थसूत्र में यह क्रम स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत के रूप में दिया गया है। प्रथम क्रम में सूक्ष्म से स्थूल की ओर वृत्ति का संकेत है जबकि द्वितीय क्रम में स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्ति का संकेत है। इन्द्रियां और उनके विषय मुख्यतः भौतिक जगत से संबन्धित हैं। यहां स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्ति सामान्य है। फलतः इस क्रम विपर्यय का कारण भी अन्वेषणीय है।

उपरोक्त आठ प्रकरण प्रायः पूर्णतः ही जैन सैद्धांतिक मान्यताओं से संबंधित हैं। उनमें पाये जानेवाले क्रम परिवर्तनों पर टीकाकारों या विद्वानों ने विचार किया हो, यह देखने में नहीं आया। इन क्रम व्यत्ययों के विषय में निम्न विदु विचारणीय हैं :

१. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

जैन सिद्धांतों के विकास को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर यह मानना सुसंगत लगता है कि भिन्न-भिन्न समयों में इनके आयाम विस्तृत, परिवर्तित और संक्षेपित हुए हैं। इसमें प्रारंभ में लोक-अनुभव था, बाद में बुद्धिवाद आया, उत्तर काल में व्यक्तित्ववाद/श्रद्धावाद आया। दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य एवं काय-वचन-मन का उत्तरवर्ती क्रम इसी का प्रतीक माना जा सकता है।

२. बुद्धिवाद का विकास

आ० उमास्वाति का युग संभवतः संक्रमण काल रहा होगा। इसीलिये उनके

सूत्रों में जहाँ भक्तिवाद के स्वर गूँज रहे हैं, वही संरभ आदि का क्रम, जीवादि तत्वों तथा नयों का व्यवस्थित क्रम उनके बुद्धिवादी स्वरूप को व्यक्त करता है। हां ऐसा लगता है कि वे चार बंधों के क्रम में ऐसा नहीं कर पाये।

उमास्वाति के बाद के प्रायः सात सौ वर्ष के बुद्धिवादी युग ने जैनों की प्रतिष्ठा में चार चांद लगाये। आज उसी प्रवृत्ति की आवश्यकता है। अनेकांतवाद की चौथी पांचवी सदी का विकास हमें अवक्तव्यता तक तो ले जाता है, पर उसमें निर्णयात्मकता का तत्व कहां है ? यह प्रश्न है।

३. परिवर्तनशीलता: वैज्ञानिकता की कसौटी

उपरोक्त क्रम-व्यत्यय आगमज्ञों की वैज्ञानिक मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। अतः सभी अगमिक मान्यताओं को श्रैकालिक मानना प्रायः समीचीन नहीं प्रतीत होता। ये क्रम परिवर्तन जैनों की वैज्ञानिकता के प्रतीक हैं। क्या हम अवैज्ञानिक या परंपरावादी हैं ? यदि ऐसा होता तो हम प्रत्यक्ष के दो भेद, परमाणु के दो भेद और प्रमाण की संक्षिप्त एवं विस्तृत परिभाषा न कर पाते।

४. उत्तर प्रतिपत्ति और दक्षिण प्रतिपत्ति

उपरोक्त क्रम-व्यत्यय क्या उत्तर और दक्षिण-प्रतिपत्ति के परिणाम हैं ? या दिगंबर-श्वेतांबर मतभेदों के परिमाण हैं ? श्वेतांबर आगम तो मुख्यतः उत्तर प्रतिपत्ति को निरूपित करते हैं और दिगंबर ग्रंथ प्रायः दक्षिण प्रतिपत्ति के प्रतीक माने जाते हैं। इनके आचार्यों में प्राचीन काल में संपर्क के अभाव में यह व्यत्यय स्वाभाविक है। यह तो ऐसा खेल प्रतीत होता है जैसे एक चक्र की प्रारंभिक चर्चा अंतिम सदस्य के पास पहुंचने तक युत्क्रमित हो जाती है।

५. विकास का अंतिम चरण

उपरोक्त प्रकरण जैन तंत्र के सैद्धांतिक विकास के अंतिम चरणों के विकास के प्रतीक हैं। दसवीं सदी तक ऐसी स्थिति आ गई थी कि उसके बाद उनमें विकास संभव नहीं रहा। श्रद्धावाद का युग आ गया।

इन और ऐसे ही अन्य प्रकरणों के कारण आज का बुद्धिवादी व्यक्ति सत्यासत्य निर्णय की अपनी क्षमता और तदनुरूप अनुकरणवृत्ति का उपभोग करना चाहता है। पर उसके सिर पर बीरसेन और वसुनदि की तलवार लटकी हुई है—सत्यं किमिति सर्वज्ञ एव जानाति'। हम तो भक्तिवादी हैं, हमें शंका या जिज्ञासा का अधिकार नहीं। पर हमें समन्तभद्र और सिद्धसेन भी याद आते हैं जो शास्त्रस्य लक्षणं परीक्षा' कहकर हमारा उत्परिवर्तन करते हैं। वर्तमान संतों और विद्वानों से आशा है कि वे नयी पीढ़ी के ऐसे ऊहापोहों के विषय में मार्गदर्शन करेंगे।

— डॉ० नंदलाल जैन
जैन केन्द्र, बजरंग नगर
रीवा

जैन आगमों में ज्योतिष : एक पर्यालोचन

□ मुनि श्रीचंद्र 'कमल'

(क) ग्रहों का वर्णन

ज्योतिष ग्रन्थों में ९ ग्रहों का वर्णन मिलता है। सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु।

आधुनिक ज्योतिषी ३ ग्रह और मानते हैं—नेपच्यून, प्लूटो और यूरेनस; किन्तु जैन ज्योतिष में ८८ ग्रहों का उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार हैं—

अंगारक, विकालक, लोहिताक्ष, शनिश्चर, आहुत, प्राहुत, कन, कनक, कनक-कनक, कनकविताक, कनकसंतानक, सोम, सहित, आशवासन, कार्योपग, कर्बटक अजरकरक, दुन्दुभक, शंख, शंखवर्ण, शंखवर्णाभ, कंस, कंसवर्ण, कंसवर्णाभ, रुक्मी, रुक्माभास, नील, नीलाभासः भस्म, भस्मराशि, तिल, तिलपुष्यवर्ण, दक, दकपञ्चवर्ण, काक, कर्कन्ध, इन्द्राग्नि, घूमकेतु, हरि, पिगल, बुध, शुक्र, बृहस्पति, राहु, अगस्ति, मानवक, काश, स्पर्श, धुर, प्रमुख, विकट, विसन्धि, णियल्ल, पइल्ल, जडियाइलग, अरुण, अग्निनल, काल, महाकालक, स्वस्तिक, सीवस्तिक, वर्द्धमानक, प्रलंब, नित्यालोक, नित्योद्योत, स्वयंप्रभ, अवभास, श्रेयस्कर, क्षेमंकर, आभंकर, प्रभंकर, अपराजित, अरजस्, अशोक, विगतशोक, विमल, वितत, वित्रस्त, विशाल, शाल, सुवत, अनिवृत्ति, एकजटिन्, जटिन्, करकरिक, दोराजागल, पुष्यकेतु, भावकेतु, 1'

राहु के दो भेद हैं—नित्यराहु और पर्वराहु।

नित्यराहु कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को चंद्रमा का एक भाग $\frac{1}{4}$ आवृत करता है, द्वितीय को $\frac{2}{4}$ आवृत करता है, इस प्रकार अमावस को पूर्ण आवृत करता है। पर्वराहु ग्रहण का कारण बनता है। पर्वराहु कम से कम ६ मास में और अधिक से अधिक ४२ मास में चन्द्रमा को आवृत करता है, उसे चन्द्रग्रहण कहा जाता है। ४८ वर्षों में सूर्य को आवृत कर पर्वराहु सूर्य ग्रहण करता है। 1' राहु के पर्यायवाची नाम ९ हैं—शृंगाटक, जटिलक, खतय, खरय, दर्दूर, मकर, महस्य, कच्छप, कृष्णसर्प। 2' ये नाम ज्योतिष ग्रन्थों से भिन्न हैं।

(ख) नक्षत्रों का विवरण

नक्षत्रों पर जैन आगमों में विशेषकर जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में व्यवस्थित रूप में वर्णन है। नक्षत्रों के नाम, चंद्र के साथ योग, नक्षत्रों के देवता, नक्षत्रों के तारे, नक्षत्रों के भोग, नक्षत्रों के संस्थान, चंद्रयोग का काल, सूर्य के साथ नक्षत्रों का योग, कुल, पूर्णिमा, अमावस्या, सन्निपात आदि विषयों की चर्चा क्रमशः विस्तार से की गई है।

दुलसी प्रज्ञा, लाडलू—खंड २३, अंक ४

नक्षत्र २८ हैं—अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषग्, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगसर, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वफाल्गुनी, उत्तरफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा ।

इन नक्षत्रों में चंद्रमा के साथ सदा दक्षिण दिशा से योग करने वाले मृगसर आर्द्रा, पुष्य, अश्लेषा, हस्त, मूल ये ६ नक्षत्र हैं । उत्तर दिशा से योग करने वाले १२ नक्षत्र हैं—अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषग्, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद, रेवति, अश्विनी, भरणी, पूर्वफाल्गुनी, उत्तरफाल्गुनी, स्वाती ।

चंद्र के साथ सदा दक्षिण और उत्तरदिशा से प्रमदयोग करनेवाले सात नक्षत्र हैं—कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा । चंद्र के साथ सदा दक्षिण से प्रमदयोग करनेवाले पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा दो नक्षत्र हैं । चंद्रमा के सर्व बाह्य मंडल में इन नक्षत्रों ने योग किया है, कर रहे हैं और करेंगे ।

चंद्रमा के साथ जो सदा प्रमदयोग करता है वह ज्येष्ठा नक्षत्र है ।^१

१. देवता—

अभिजित् नक्षत्र का ब्रह्म देवता है, श्रवण नक्षत्र का विष्णु, धनिष्ठा का वसु, शतभिषग् का वरुण, पूर्वभाद्रपद का अज, उत्तरभाद्रपद का अभिवृद्धि, रेवती का पुष्य, अश्विनी का अश्व, भरणी का यम, कृत्तिका का अग्नि, रोहिणी का प्रजापति, मृगसर का सोम, आर्द्रा का रौद्र, पुनर्वसु का आदित्य, पुष्य का बृहस्पति, अश्लेषा का सर्प, मघा का पितृ, पूर्वफाल्गुनी का भग, उत्तरफाल्गुनी का अर्यमन, हस्त का सविता, चित्रा का त्वष्ठा, स्वाती का वायु, विशाखा का इन्द्राग्नि, अनुराधा का मित्र, ज्येष्ठा का इन्द्र, मूल का नैऋति, पूर्वाषाढा का जलदेव और उत्तराषाढा का विश्व देवता हैं ।

२. तारे—

अभिजित् आदि अष्टादश नक्षत्रों के तारे क्रमशः ये हैं—

अभिजित् के तीन तारे, श्रवण के तीन, धनिष्ठा के पांच, शताभिषा के सौ, पूर्वभाद्रपद के दो, उत्तरभाद्रपद के दो, रेवती के बत्तीस, अश्विनी के तीन, भरणी के तीन, कृत्तिका के छह, रोहिणी के पांच, मृगसर के तीन, आर्द्रा का एक, पुनर्वसु के पांच, पुष्य के तीन, अश्लेषा के छह, मघा के सात, पूर्वफाल्गुनी के दो, उत्तरफाल्गुनी के दो, हस्त के पांच, चित्रा का एक, स्वाति का एक, विशाखा के पांच, अनुराधा के चार, ज्येष्ठा के तीन, मूल के ग्यारह, पूर्वाषाढा के चार और उत्तराषाढा के चार तारे कहे गए हैं ।^१

३. नक्षत्र-गोत्र—

अभिजित् का मौदगलायन गोत्र, श्रवण का संख्यायन गोत्र, धनिष्ठा का अग्र-भावगोत्र, शतभिषा का कर्णिलायन गोत्र, पूर्वभाद्रपद का जातुकर्णगोत्र, उत्तरभाद्रपद का धनञ्जय गोत्र, रेवती का पुष्यायनगोत्र, अश्विनी का अश्वायनगोत्र, भरणी का भार्गवेष, कृत्तिका का अग्निवेशगोत्र, रोहिणी का गौतमगोत्र, मृगसर का भारद्वाजगोत्र, आर्द्रा का लौहित्यगोत्र, पुनर्वसु का वशिष्ठ गोत्र, पुष्य का अवमज्जायन गोत्र,

अश्लेषा का मंडव्यायनगोत्र, मघा का पिगायन गोत्र, पूर्वफाल्गुनी का गोवास्त्रायन गोत्र, उत्तराफाल्गुनी का काश्यपगोत्र, हस्त का कौशिकगोत्र, चित्रा का दर्भायनगोत्र, स्वाति का चामरुद्धायनगोत्र, विशाखा का शृंगायन गोत्र, अनुराधा का गोवल्याख्यान-गोत्र, ज्येष्ठा का त्रिगित्सायन गोत्र, मूल का कात्यायन गोत्र, पूर्वाषाढा का बन्धियायन गोत्र और उत्तराषाढा का व्याघ्रपत्यगोत्र है ।^{१०}

४. नक्षत्र-संस्थान (आकार)

अभिजित् का गोशीर्षावलि संस्थान, श्रवण का काहारका, धनिष्ठा का पक्षी के पिंजरे का, शतभिषा का पुष्य के पुंज का, पूर्वभाद्रपद और उत्तराभाद्रपद का बावडी, रेवती का नावा, अश्विनी का अश्वस्कंध जैसा, भरणी का भग जैसा, कृतिका का क्षुर-धार, रोहिणी का शकट, मृगसर का मृग का सिर जैसा, आर्द्रा का हृषिर बिन्दु समान, पुनर्वसु का तुला, पुष्य का वर्धमानक, अश्लेषा का ध्वजा, मघा का प्राकार, पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी का पर्यक, हस्त का हाथ का पंजा, चित्रा का मुखफल्लग (ललाट का आभूषण), स्वाति का कीलक, विशाखा का दामनी, अनुराधा का एकावली, ज्येष्ठा का गजदन्त, मूल का वृषिक की पूँछ, पूर्वाषाढा का गजविक्रम, उत्तराषाढा का बैठा हुआ सिंह ।^{११}

योगायोग

अभिजित् नक्षत्र चंद्र के सा ९^{३६} मुहूर्त्त तक योग करता है। शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, अश्लेषा, स्वाति और ज्येष्ठा ये छह नक्षत्र पंद्रह मुहूर्त्त पर्यंत, उत्तराभाद्रपद, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा ये नक्षत्र ४५ मुहूर्त्तपर्यंत शेष १५ नक्षत्र तीस मुहूर्त्त पर्यंत, चन्द्र के साथ योग करते हैं ।^{१२}

अभिजित् नक्षत्र सूर्य के साथ ४ अहो रात्रि और ६ मुहूर्त्त पर्यंत, शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, अश्लेषा स्वाति और ज्येष्ठा ये छह अहोरात्रि और २१ मुहूर्त्त पर्यंत, उत्तराभाद्रपद, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, पुनर्वसु, रोहिणी, विशाखा ये छह नक्षत्र २० अहोरात्रि और तीन मुहूर्त्त पर्यंत, शेष पंद्रह नक्षत्र तेरह अहोरात्रि और बारह मुहूर्त्त पर्यंत सूर्य के साथ योग करते हैं ।^{१३}

पूर्णिमा बारह है — (१) श्राविष्ठी (श्रावणमास की) (२) पोष्टवती (भाद्रव मास की) (३) आश्विनी (आसोज मास की) (४) कार्तिकी (कार्तिक मास की) (५) मृगश्री (मृगसर मास की) (६) पोषी (पोष मास की) (७) माघी (माघ मास की) (८) फाल्गुनी (फाल्गुन मास की) (९) चैत्री (चैत्र मास की) (१०) वैशाखी (वैशाख मास की) (११) ज्येष्ठामूली (ज्येष्ठ मास की) (१२) आषाढी (आषाढ मास की) ।^{१४}

श्रावण मास की पूर्णिमा को तीन नक्षत्र योग करते हैं—अभिजित्, श्रवण, और धनिष्ठा। भाद्रवी पूर्णिमा को तीन नक्षत्र योग करते हैं—शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद और उत्तराभाद्रपद। अश्विनी पूर्णिमा को रेवती और अश्विनी ये दो नक्षत्र योग करते हैं। कार्तिकी पूर्णिमा को दो नक्षत्र भरणी और कृतिका, मृगसर मास की पूर्णिमा को दो नक्षत्र, रोहिणी और मृगसर, पोषी पूर्णिमा को तीन नक्षत्र आर्द्रा, पुनर्वसु और पुष्य,

माघ मास की पूर्णिमा को दो नक्षत्र अश्लेषा और मघा, फाल्गुनी पूर्णिमा को दो नक्षत्र पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी, चैत्री पूर्णिमा को दो नक्षत्र हस्त और चित्रा, वैशाखी पूर्णिमा को दो नक्षत्र स्वाति और विशाखा, ज्येष्ठामूली को तीन नक्षत्र अनुराधा, ज्येष्ठा और मूल, आषाढी पूर्णिमा को दो नक्षत्र पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा योग करते हैं ।

इस प्रकार श्रावणी, भाद्रवी, पोषी और ज्येष्ठामूली पूर्णिमा को कुल नक्षत्र, उप-कुल नक्षत्र और कुलोपकुल नक्षत्र योग करते हैं, शेष पूर्णिमाओं को कुल नक्षत्र और उपकुल नक्षत्र योग करते हैं ।¹³

श्रावण मास की अमावस्या को अश्लेषा और मघा दो नक्षत्र योग करते हैं । भाद्रव मास की अमावस्या को पूर्वफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी, आसोजी अमावस्या को हस्त और चित्रा, कार्तिकी अमावस्या को स्वाति और विशाखा, मृगसर की अमावस्या को अनुराधा, ज्येष्ठा और मूल, पोष की अमावस्या को पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा, माघ की अमावस्या को अभिजित्, श्रवण और धनिष्ठा, फाल्गुनी अमावस्या को शतभिषा, पूर्वभाद्रपद और उत्तरभाद्रपद, चैत्री अमावस्या को रेवती और अश्विनी, वैशाखी अमावस्या को भरणी और कृत्तिका, ज्येष्ठामूली अमावस्या को रोहिणी और मृगसर, आषाढी अमावस्या को आर्द्रा, पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र योग करते हैं ।¹⁴

जब श्रावण मास की अमावस्या होती है तब माघ मास की पूर्णिमा होती है । जब माघ मास की पूर्णिमा होती है तब श्रावण मास की अमावस्या होती है । इसका हेतु है अश्लेषा और मघा नक्षत्र । ये दो नक्षत्र श्रावण मास की अमावस्या के साथ योग करते हैं और माघ की पूर्णिमा के साथ योग करते हैं । जब भाद्रवी पूर्णिमा तब फाल्गुनी अमावस्या होती है । अश्विनी पूर्णिमा होती है तब चैत्री अमावस्या होती है । जब कार्तिकी पूर्णिमा होती है तब वैशाखी अमावस्या होती है । जब मृगसरी पूर्णिमा होती है तब ज्येष्ठामूली अमावस्या होती है जब पोषी पूर्णिमा होती है तब आसाढी अमावस्या होती है ।¹⁵

वर्षा ऋतु के प्रथम मास को चार नक्षत्र पूर्ण करते हैं—उत्तराषाढा, अभिजित्, श्रवण और धनिष्ठा । उत्तराषाढा चौदह अहोरात्रि तक, अभिजित् सात अहोरात्रि तक, श्रवण आठ अहोरात्रि तक और धनिष्ठा एक अहोरात्रि तक रहता है । उस मास में चार अंगुल पुरुष छाया से सूर्य परिभ्रमण करता है । अर्थात् उस महीने के अन्तिम दिन में दो पांव और चार अंगुल अधिक छाया सूर्य के ताप में पड़ती है तब प्रहर दिन आता है ।

वर्षा ऋतु के दूसरे मास को चार नक्षत्रपूर्ण करते हैं—धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्व-भाद्रपद और उत्तरभाद्रपद । धनिष्ठा चौदह अहोरात्रि पर्यंत, शतभिषा सात अहोरात्रि पर्यंत, पूर्वभाद्रपद आठ अहोरात्रि पर्यंत और उत्तराभाद्रपद एक अहोरात्रि रहता है । उस मास में सूर्य आठ अंगुल अधिक पुरुष छाया से परिभ्रमण करता है । उस मास के अन्तिम दिन में दो पग आठ अंगुल से पौरिसी होती है ।

वर्षा ऋतु के तीसरे मास को तीन नक्षत्रपूर्ण करते हैं—उत्तराभाद्रपद, रेवती

और अश्विनी । इनमें उत्तराभाद्रपद चौदह अहोरात्रि, रेवती पंद्रह अहोरात्रि और अश्विनी एक अहोरात्रि रहता है । इस मास में सूर्य बारह अंगुल की पुरुष छाया से परिभ्रमण करता है । उस मास के अन्तिम दिन में तीन पांव छाया से पौरिसी आती है ।

वर्षा ऋतु के चौथे मास को तीन नक्षत्रपूर्ण करते हैं—अश्विनी, भरणी और कृत्तिका । अश्विनी चौदह अहोरात्रि, भरणी पन्द्रह अहोरात्रि और कृत्तिका एक अहोरात्रि रहता है । उस मास में सोलह अंगुल की पुरुष छाया से सूर्य परिभ्रमण करता है । उस मास के अन्तिम दिन में तीन पांव चार अंगुल छाया से पौरिसी आती है ।

हेमंत ऋतु के प्रथम मास को तीन नक्षत्रपूर्ण करते हैं—कृत्तिका, रोहिणी और मृगसर । कृत्तिका चौदह अहोरात्रि, रोहिणी पन्द्रह अहोरात्रि और मृगसर एक अहोरात्रि रहता है । उस मास में बीस अंगुल की पुरुष छाया से सूर्य परिभ्रमण करता है । उस मास के अन्तिम दिन में तीन पांव आठ अंगुल से पौरिसी आती है—

हेमन्त ऋतु के दूसरे मास को चार नक्षत्रपूर्ण करते हैं—मृगसर, आर्द्रा, पुनर्वसु और पुष्य । मृगसर चौदह अहोरात्रि, आर्द्रा आठ अहोरात्रि, पुनर्वसु सात अहोरात्रि और पुष्य एक अहोरात्रि रहता है । उस समय चौबीस अंगुल प्रमाण पुरुष छाया से सूर्य परिभ्रमण करता है । उसके अन्तिम दिन में तीन पांव चार अंगुल से पौरिसी आती है ।

हेमन्त ऋतु के तीसरे मास को तीन नक्षत्रपूर्ण करते हैं—पुष्य, अश्लेषा और मघा । पुष्य चौदह अहोरात्रि, अश्लेषा पन्द्रह अहोरात्रि और मघा एक अहोरात्रि रहता है । उस समय बीस अंगुल प्रमाण पुरुष छाया से सूर्य परिभ्रमण करता है । उस मास के अन्तिम दिन में तीन पांव और आठ अंगुल से पौरिसी होती है ।

हेमन्त ऋतु के चौथे मास को तीन नक्षत्रपूर्ण करते हैं—मघा, पूर्वफाल्गुनी और उत्तरफाल्गुनी । मघा चौदह अहोरात्रि, पूर्वफाल्गुनी पन्द्रह अहोरात्रि और उत्तरफाल्गुनी एक अहोरात्रि रहता है । उस समय सोलह अंगुल की पुरुष छाया से सूर्य परिभ्रमण करता है । उस मास के अन्तिम दिन में तीन पांव चार अंगुल से पौरिसी होती है ।

ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास को तीन नक्षत्रपूर्ण करते हैं—उत्तराफाल्गुनी, हस्त और चित्रा । उत्तराफाल्गुनी चौदह अहोरात्रि, हस्त पन्द्रह अहोरात्रि और चित्रा एक अहोरात्रि रहता है । उस समय बारह अंगुल की पुरुष छाया से सूर्य परिभ्रमण करता है और पौने तीन पांव से पौरिसी होती है ।

ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास को तीन नक्षत्र पूर्ण करते हैं—चित्रा, स्वाति और विशाखा । चित्रा चौदह अहोरात्रि, स्वाति पन्द्रह अहोरात्रि और विशाखा एक अहोरात्रि रहता है । उस समय आठ अंगुल पुरुष छाया से सूर्य परिभ्रमण करता है । उस मास के अन्तिम दिन में दो पांव आठ अंगुल से पौरिसी होती है ।

ग्रीष्म ऋतु के तीसरे मास को चार नक्षत्रपूर्ण करते हैं—विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा और मूल । विशाखा चौदह अहोरात्रि, अनुराधा आठ अहोरात्रि, ज्येष्ठा सात अहोरात्रि और मूल एक अहोरात्रि रहता है । उस समय सूर्य चार अंगुल पुरुष छाया

से परिभ्रमण करता है। उस मास के अन्तिम दिन में दो पाँच चार अंगुल से पौरिंसी होती है।

ग्रीष्म ऋतु के चतुर्थ मास को तीन नक्षत्रपूर्ण करते हैं—मूल, पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा। मूल चौदह अहोरात्रि, पूर्वाषाढा पन्द्रह अहोरात्रि और उत्तराषाढा एक अहोरात्रि रहता है। उस समय वर्तुल, समचतुस्र संस्थान और न्यग्रोध परिमंडल संस्थान वाली अपनी काया समान छाया से सूर्य परिभ्रमण करता है। उस समय दो पाँच से पौरिंसी होती है।^{११}

५. द्वार

अभिजित्, श्रवण, घनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद, रेवती ये पूर्व द्वार हैं। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगसर (संठाण) आर्द्रा, पुनर्वसु ये सात दक्षिणद्वार हैं। पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तरफाल्गुनी, हस्त और चित्रा ये सात नक्षत्र पश्चिम द्वार हैं। स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा ये सात नक्षत्र उत्तर द्वार हैं।

उन उन नक्षत्रों में उस उस दिशा में यात्रा करनी शुभ होती है।^{१२}

६. भोजन

कृत्तिका को दहि, रोहिणी को वृषभकंद, मृगसर को कस्तूरी के दाने, आर्द्रा को नवनीत, पुनर्वसु को घृत, पुष्य को खीर, अश्लेषा को चित्रक, मघा को कसार, पूर्वफाल्गुनी को मेंढासिंगी का गुदा, उत्तरफाल्गुनी को बड़े बेर का गुदा, हस्त को गिलोय, चित्रा को मूंग का सूप, स्वाति को फल, विशाखा को खाजे, अनुराधा को कस्तूरी मिला हुआ अन्न, ज्येष्ठा को बेर की खोड़ी, मूल को सहिजन, पूर्वाषाढा को आमला, उत्तराषाढा को बेल, अभिजित् को पुष्प, श्रवण को खीर, घनिष्ठा को जूस, शतभिषा को तुवर की दाल, पूर्वभाद्रपद को करेला, उत्तरभाद्रपद को वाराहीकंद, रेवती को नारियल की गिरी, अश्विनी को मैथी और भरणी को तिल, चावल, इन नक्षत्रों में उनका भोजन खाकर जाने से कार्य की सिद्धि होती है।^{१३}

७. कुलोपकुल संज्ञा

घनिष्ठा, उत्तरभाद्रपद, अश्विनी, कृत्तिका, मृगसर, पुष्य, मघा, उत्तरफाल्गुनी, चित्रा, विशाखा, मूल, उत्तराषाढा, ये बारह नक्षत्र कुलसंज्ञक हैं। श्रवण, पूर्वभाद्रपद, रेवती, भरणी, रोहिणी, पुनर्वसु अश्लेषा, पूर्वफाल्गुनी, हस्त, स्वाति, ज्येष्ठा और पूर्वाषाढा ये बारह नक्षत्र उपकुलसंज्ञक हैं। अभिजित् शतभिषा, आर्द्रा और अनुराधा ये चार नक्षत्र कुलोपकुलसंज्ञक हैं।^{१४}

इस प्रकार नक्षत्रों के संबन्ध में जैन आगमों में विस्तृत वर्णन है और उनके देवता, तारे, गोत्र, संस्थान, द्वार, भोजन और कुलोपकुल संज्ञा के साथ योगायोग के विवरण प्राप्त होते हैं। पाठकों की सुविधा के लिए उनका एक चार्ट नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

आगमों में ज्योतिष : एक पर्यालोचन

नक्षत्रों का चार्ट

	१. देवता	२. तारे	३. गोत्र	४. संस्थान	५. द्वार	६. भोजन	७. कुल उपकुल
अभिजित्	ब्रह्म	३	मौदगलायन	गोशीर्षावलि	पूर्व	पुष्प	कुलोपकुल
श्रवण	विष्णु	३	संख्यायन	काहारका	पूर्व	खीर	उपकुल
घनिष्ठा	वसु	५	अग्रभाव	पक्षी का पिजारा	पूर्व	जूस	कुल
शतभिषा	वरुण	१००	कर्णलायन	पुष्प के पूंज	पूर्व	तुवर की दाल	कुलोपकुल
पूर्वभाद्रपद	अज	२	जातुकर्ण	बावड़ी	पूर्व	करेला	उपकुल
उत्तरभाद्रपद	अभिवृद्धि	२	घनंजय	बावड़ी	पूर्व	वाराही कंद	कुल
रेवती	पुष्य	३२	पुष्यायन	नावा	पूर्व	नारियल की गिरी	उपकुल
अश्विनी	अश्व	३	अशवायन	अश्वस्कंध	दक्षिण	मैथी	कुल
भरणी	यम	३	भारग्वेष	भग	दक्षिण	तिल, नावल	उपकुल
कृत्तिका	अग्नि	६	अग्निवेश	क्षुरधार	दक्षिण	दहि	कुल
रोहिणी	प्रजापति	५	गौतम	शकट	दक्षिण	वृषभकंद	उपकुल
मृगशरा	सोम	३	भारद्वाज	मुग्शीष	दक्षिण	कस्तूरी का दाना	कुल
आर्द्रा	रोद्र	१	लौहित्य	शुधिरांबुदु	दक्षिण	नवनीत	कुलोपकुल
पुनर्वसु	आदित्य	५	वशिष्ठ	तुला	दक्षिण	घृत	उपकुल

पुष्य	बृहस्पति	३	अवमज्जायन	वर्धमान (शरावला)	पश्चिम	खीर	कुल
अश्लेषा	सर्प	६	मंडव्यायन	ध्वजा	पश्चिम	चित्रक	उपकुल
मघा	पितृ	७	पिंगायन	गाडे का	पश्चिम	कसार	कुल
पूर्व फाल्गुनी	भग	२	गोवालायन	पर्यंक	पश्चिम	मेंढा सिंगी का गुदा	उपकुल
उत्तर फाल्गुनी	अर्यमन	२	काश्यप	पर्यंक	पश्चिम	बडे बेर का गुदा	कुल
हस्त	सविता	५	कौशिक	हाथ का पंजा	पश्चिम	गिलोय	उपकुल
चित्रा	त्वष्टा	१	दर्भायन	मुख का आभरण	पश्चिम	मूंग का सूप	कुल
स्वाती	वायु	१	चामरछायन	कीसे का	उत्तर	फल	उपकुल
विशाखा	इन्द्राग्नि	५	शृंगायन	दामनी	उत्तर	खाजे	कुल
अनुराधा	मित्र	४	गोवल्याख्यान	एकावलि	उत्तर	कस्तूरी मिला अन्न कुलोपकुल	उपकुल
ज्येष्ठा	इन्द्र	३	तिगिरसायन	गजदंत	उत्तर	बेर की खोड़ी	उपकुल
मूल	नैऋति	११	कात्यायन	वृश्चिक की पूंछ	उत्तर	सहिजन	कुल
पूर्वाषाढ़ा	जलदेव	४	बलिभयापन	गज विक्रम	उत्तर	आमला	उपकुल
उत्तराषाढ़ा	विश्वदेवता	४	व्याघ्रपत्य	बैठा हुआ सिंह	उत्तर	बेल	कुल

(ग) संवत्सर आदि का विवरण

संवत्सर पांच प्रकार का है—१. नक्षत्र संवत्सर २. युग संवत्सर ३. प्रमाण संवत्सर ४. लक्षण संवत्सर ५. शनैश्चर संवत्सर ।

१. नक्षत्र संवत्सर के १२ प्रकार हैं—श्रावण, भाद्रव, आसोज, कार्तिक, मृगसर, पोष, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, जेठमूल, आषाढ । बृहस्पतिमहाग्रह ऊपर के १२ संवत्सरो में सर्व नक्षत्रमंडलों की गति पूरी करता है ।

२. युग संवत्सर के पांच प्रकार हैं—चन्द्र, चन्द्र, अभिवर्धित, चन्द्र, अभिवर्धित ।

(क) चन्द्र संवत्सर के २४ पक्ष होते हैं । (ख) चन्द्र संवत्सर में २४ पक्ष होते हैं । (ग) अभिवर्धित संवत्सर में २६ पक्ष होते हैं । (घ) चन्द्र संवत्सर में २४ पक्ष होते हैं । (ङ) अभिवर्धित संवत्सर में २६ पक्ष होते हैं । इस प्रकार एक युग में १२४ पक्ष होते हैं ।

(३) प्रमाण संवत्सर के पांच प्रकार हैं—नक्षत्र, चन्द्र, ऋतु, आदित्य और अभिवर्धित ।

(४) लक्षण संवत्सर के पांच प्रकार हैं—सम्यक् प्रकार से नक्षत्र चन्द्रमा के साथ योग करे और सम्यक् प्रकार से ऋतु होवे, न अति गर्म और न अति शीत, बहुत पानी हो । सम्यक् प्रकार से नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ योग हो इसका अर्थ होता है—जिस नक्षत्र के नाम से मास का नामकरण है उस नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग हो, जैसे—श्रावण मास में श्रवण नक्षत्र के दिन पूर्णिमा हो, माघ मास की पूर्णिमा को मघा नक्षत्र हो ।

चन्द्रसंवत्सर—

किसी पूर्णमासी को दो नक्षत्र और किसी पूर्णमासी को तीन नक्षत्र स्पर्श करते हैं विषम नक्षत्र (मास के नाम वाले नक्षत्र के अतिरिक्त दूसरे नक्षत्र) के साथ चन्द्रमा का योग हो, वर्षा बहुत हो पर कटू हो (शीत, ताप आदि अधिक और रोगादि हो) ।

ऋतु संवत्सर—

जिस संवत्सर में वनस्पति विषमकाल में अंकुरित हो, बिना ऋतु पुष्प आदि हो, सम्यक् प्रकार से वर्षा न हो ।

आदित्य संवत्सर—

अल्प वर्षा से भी पृथ्वी, पुष्प, फल, रस तथा छायादि को अधिक दे, पानी पर्याप्त हो ।

अभिवर्धित संवत्सर—

सूर्य के तेज से क्षण, लव, दिवस ऋतु आदि का परिणमन हो, ऊंचा नीचा सब स्थान जल से परिपूर्ण हो ।

(५) पांचवा 'शनैश्चर' नाम का महा संवत्सर होता है । जिसके २८ भेद हैं—अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगसर, आर्द्रा, पुनर्बंसु, पुष्य,

अश्लेषा, मघा, पूर्वफाल्गुनी, उत्तरफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा ।

यह शनिश्चर संवत्सर ३० वर्षों में इन सब नक्षत्रों को स्पर्श कर पूर्ण करता है ।

मास

एक संवत्सर में बारह मास होते हैं । मास के दो प्रकार हैं—लौकिक और लोकोत्तर मास । श्रावण आसोज आदि लौकिक मास है । लोकोत्तर मास के श्रावण आदि से क्रमशः १२ नाम ये हैं—१. अभिनन्दित २. प्रतिष्ठा ३. विजय ४. प्रीतिवर्द्धन ५. श्रेयांस ६. शिव ७. शिशिर ८. हेमवत् ९. वसंत १०. कुसुमसंभव ११. निदाघ १२. वनविरोध ।

पक्ष दिवस और रात्रि

एक मास में दो पक्ष होते हैं । कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष । एक पक्ष में पन्द्रह दिन होते हैं । प्रतिपदा दिवस, द्वितीय दिवस, तृतीय दिवस, चतुर्थ पञ्चदश दिवस । इन पन्द्रह दिवसों के क्रमशः नाम हैं—१. पूर्वांग २. सिद्ध मनोरम ३. मनोहर ४. यशभद्र ५. यशोधर ६. सर्वकाम समृद्ध ७. इन्द्रमूर्धाभिषिक्त ८. सौमनस ९. धनञ्जय १०. अर्थ सिद्ध ११. अभिजात १२. अत्यशन २३. शतञ्जय १४. अग्नि वेष १५. उपशम ।

इन पन्द्रह दिवसों के क्रमशः तिथि नाम हैं—नंदा, भद्रा, जया, तुच्छा (रिक्ता), पूर्णा ।

एक पक्ष की पन्द्रहरात्रि होती है—प्रतिपदा रात्रि, द्वितीया रात्रि.....पञ्चदशी रात्रि । इनके क्रमशः नाम हैं—(१) उत्तमा, (२) सुनक्षत्रा, (३) एलापत्या, (४) यशोधरा, (५) सौमनसा (६) श्रीसंभूता, (७) विजया, (८) वैजयन्ती, (९) जयन्ती, (१०) अपराजिता, (११) इच्छा, (१२) समाहारा, (१३) तेजा और अति तेजा, (१४) देवानन्दा, (१५) निरति । इन पन्द्रह रात्रियों के तिथि नाम क्रमशः ये हैं ।*

उग्रवती, भोगवती, यशोमती, सर्वसिद्धा, सुखनामा, उग्रवती, भोगवती, यशोमती, सर्वसिद्धा, सुखनामा । उग्रवती, भोगवती, यशोमती, सर्वसिद्धा, सुखनामा । ज्योतिष के ग्रंथों में पन्द्रह तिथियों में प्रतिपदा, द्वितीया आदि नाम प्रचलित हैं ।

आगम में पन्द्रह दिनों की लोकोत्तर संज्ञा, रात्रियों, रात्रियों के नाम तथा उग्रवती आदि रात्रियों के नाम विशेष उल्लिखित हैं ।

मुहूर्त

एक अहोरात्र में ३० मुहूर्त होते हैं । जो इस प्रकार है—रोद्र, श्वेत, मित्र, वायु, सुवीत, अभिचन्द्र, महेन्द्र, बलवान, ब्रह्म, बहुसत्य, ईशान, त्वष्टा, भावितात्मा, वैश्वमण, बरुण, आनन्द, विजय, विश्वसेन, प्रजापत्य, उपशम, गन्धर्व, अग्निवेश, शतवृषभ, आत्मवान्, अमम, ऋणवान्, भोम, वृषभ, सर्वार्थ, राक्षस ।

करण

एक तिथि में दो करण होते हैं । एक करण दिन में होता है तथा दूसरा करण रात्रि में होता है । चर करण क्रमशः तिथियों में चलते रहते हैं । स्थिर करण

निश्चित तिथि के निश्चित समय होता है ।

ग्यारह करण हैं—बव, बालव, कोलव, स्त्री विलोचन, गरादि, वाणिज, विष्टि, ये सात करण चर है । शकुनी, चतुष्पाद, नाग और किस्तुघ्न ये चार करण स्थिर हैं । निश्चित तिथियों में ही होते हैं । शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को रात्रि को बव करण होता है द्वितीया को दिन में ही बालव करण और रात्रि में कोलव करण तृतीया को दिन में स्त्री विलोचन करण और रात्रि में गरादि करण, चतुर्थी को दिन में वाणिज करण और रात्रि में विष्टिकरण होता है ।

पंचमी को दिन में बव करण और रात्रि में बालव करण

षष्ठी को दिन में कोलव करण और रात्रि में स्त्री विलोचन करण

सप्तमी को दिन में गरादि करण और रात्रि में वाणिज करण

अष्टमी को दिन में विष्टि करण और रात्रि में बव करण

नवमी को दिन में बालव करण और रात्रि में कोलव करण

दशमी को दिन में स्त्री विलोचन करण और रात्रि में गरादि कारण

एकादशी को दिन में वाणिज करण और रात्रि में विष्टि करण

द्वादशी को दिन में बव करण और रात्रि में बालव करण

त्रयोदशी को दिन में कोलव करण और रात्रि में स्त्री विलोचन करण

चतुर्दशी को दिन में गरादि करण और रात्रि में वाणिज करण

पंचदशी को दिन में विष्टि करण और रात्रि में बव करण

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से अमावस्या तक करण इस प्रकार हैं—प्रतिपदा को दिन को बालव व रात्रि को कोलव । इस प्रकार त्रयोदशी को रात्रि तक क्रमशः करण होते हैं । चतुर्दशी को दिन में विष्टि और रात्रि में शकुनि, अमावस्या को दिन में चतुष्पाद करण और रात्रि में नाग । शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन किस्तुघ्न करण स्थिर रहते हैं । शेष तिथियों में सप्त करण क्रमशः होते रहते हैं ।^{२*}

जैन ज्योतिष के अनुसार संवत्सर में प्रथम चंद्रसंवत्सर, अयन में प्रथम दक्षिणायन, ऋतु में प्रथम प्रावृट् ऋतु, मास में प्रथम श्रावण मास, पक्ष में प्रथम कृष्ण पक्ष, अहोरात्रि में प्रथम दिन, मुहूर्त में प्रथम रुद्र, करण में प्रथम ववकरण और नक्षत्र में प्रथम अभिजित् है ।

सूर्य का परिभ्रमण क्षेत्र

सूर्य की गति करने के १८४ मंडल हैं । ६५ मंडल जंबू द्वीप में हैं जो १८० योजन में हैं । ११९ मंडल लवण समुद्र में हैं जो ३३० योजन में हैं । १८४ मंडलों में सूर्य $१८० + ३३० = ५१०$ योजन गति करता है । मेरु पर्वत के सर्वाभ्यन्तर मंडल से लवण समुद्र के सर्वबाह्य मंडल तक सूर्य १८३ अहोरात्रि में १८४ मंडलों में गतिमान रहता है । सर्वाभ्यन्तर मंडल और सर्व बाह्य में सूर्य एक-एक बार जाता है और १८२ मंडलों में दो-दो बार जाता है । जम्बूद्वीप में दो सूर्य हैं । एक सूर्य अहोरात्रि (३० मुहूर्त) में एक मंडल की गति करता है, दूसरा सूर्य भी ३० मुहूर्त में उसी मंडल की गति करता है । इस प्रकार दो सूर्य मिलकर ६० मुहूर्त में एक मंडल की परिभ्रमण पूर्ण करते हैं ।

सर्वाभ्यन्तर मंडल से जब सूर्य लवण समुद्र की ओर गति प्रारम्भ करता है तब दक्षिणायन का प्रारम्भ या प्रथम समय होता है जिसे सर्व वाह्य मंडल तक पहुंचने पर दक्षिणायन पूर्ण हो जाता है। जब सूर्य सर्व वाह्य मंडल से सर्वाभ्यन्तर मंडल की ओर गति करता है तब उत्तरायण का प्रारंभ बिन्दु होता है।

सूर्य १८३ अहोरात्रि में ५१० योजन पार करता है इसलिए एक अहोरात्रि में $\frac{510}{183} = 2\frac{2}{3}$ योजन पार करता है। प्रत्येक मंडल की दूरी दो-दो योजन की है और सूर्य का विमान $\frac{510}{2} = 255$ योजन का है। इस दृष्टि से सूर्य $2 \times 255 = 510$ योजन प्रत्येक मंडल में गति करता है।

मेरु पर्वत से सर्वाभ्यन्तर मंडल ४४८२० योजन दूर है और सर्व वाह्य मंडल उससे ५१० योजन दूर है इस प्रकार में मेरु पर्वत से सर्व वाह्य मंडल $44820 + 510 = 45330$ योजन दूर है।

प्रथम मंडल की परिधि व्यवहार नय से 315000 योजन की है। सूर्य जब मेरु पर्वत की सम्पूर्ण प्रदक्षिणा करता है तब उसका एक मंडलपूर्ण होता है। एक मंडल को पूर्ण करने में 60 मुहूर्त या दो अहोरात्रि लगते हैं। इसलिए प्रथम मंडल पर सूर्य एक मुहूर्त में $315000 \div 60 = 5250000$ योजन की गति से चलता है। सर्वाभ्यन्तर मंडल पर 15 मुहूर्त का दिन होता है। इतने समय में वह $5250000 \times 15 = 78750000$ योजन गति करता है। 30 मुहूर्त दिन में प्रकाश करता है। $78750000 \div 2 = 39375000$ योजन दूर से वहाँ के भरत क्षेत्र के मनुष्यों को सूर्य दृष्टिगत होता है।

सर्वाभ्यन्तर से निकलकर सूर्य रात्रि में गति करता हुआ दूसरे मंडल में प्रवेश करता है। दूसरे मंडल पर सूर्य प्रति मुहूर्त में 5250000 योजन से गति करता है और 47170000 योजन दूर रहे हुए मनुष्यों को दृष्टिगत होता है। प्रत्येक मंडल पर 15 योजन प्रति मुहूर्त गति बढ़ाता हुआ 525 योजन से कम दूरी कम करता हुआ वहाँ भरत क्षेत्र के मनुष्यों को दृष्टिगत होता है। सर्व वाह्य मंडल पर पहुंचते पहुंचते सूर्य की गति प्रति मुहूर्त 5250000 योजन हो जाती है। 3150000 योजन की दूरी से वहाँ के मनुष्यों को दिखाई देता है।

दिन-रात्रि—

जब सूर्य सर्वाभ्यन्तर मंडल में होता है तब 15 मुहूर्त का दिन होता है और 12 मुहूर्त की रात्रि होती है। सर्वाभ्यन्तर मंडल से सर्व वाह्य मंडल की ओर सूर्य गति करता है तब दक्षिणायन प्रारंभ होता है। सर्वाभ्यन्तर मंडल से दूसरे मंडल पर सूर्य होता है तब 15 मुहूर्त से 12 मुहूर्त कम दिन होता है और 12 मुहूर्त से 15 मुहूर्त अधिक रात होती है। प्रत्येक मंडल पर 12 मुहूर्त दिन कम होता जाता है और रात्रि बढ़ती जाती है। सर्ववाह्य मंडल पर पहुंचने पर दिन 12 मुहूर्त हो जाता है और रात्रि 15 मुहूर्त की हो जाती है। प्रत्येक मंडल पर 12 मुहूर्त का अन्तर होता है तो 183 मंडलों पर $12 \times 183 = 2196 = 6$ मुहूर्त। सर्वाभ्यन्तर मंडल से सर्व वाह्य मंडल तक 6 मुहूर्त की हानि और वृद्धि होती है $15 - 6 = 9$ मुहूर्त का दिन $12 +$

६ = १८ मुहूर्त की रात्रि । वापस सर्ववाह्य मंडल से सर्वाभ्यन्तर मंडल की ओर गति करने से उत्तरायण प्रारम्भ होता है । ३३ मुहूर्त दिन बढ़ता जाता है और रात्रि घटती जाती है ।

परिधि—

मेरु पर्वत के दोनों ओर दो बाहु अवस्थित हैं । एक का नाम सर्वाभ्यान्तर और दूसरी का नाम सर्ववाह्य है । मेरु पर्वत की परिधि ६१६२३ योजन की है । सर्व आभ्यन्तर बाहु मेरु पर्वत के पास ९४८६६ $\frac{३}{४}$ योजन की परिधि में है । यह मेरु पर्वत की परिधि का $\frac{३}{४}$ हिस्सा है । $३१६२३ \times \frac{३}{४} = ९४८६६\frac{३}{४}$ योजन है ।

सर्ववाह्यबाहु लवणसमुद्र के पास ९४८६८ $\frac{१}{४}$ योजन है । यह जंबूद्वीप का $\frac{३}{४}$ भाग है । जंबूद्वीप की परिधि व्यवहार नय से ३१६२२८ योजन की है । $३१६२२८ \times \frac{३}{४} = २३७१७१$ योजन । सर्वाभ्यन्तर मंडल की लम्बाई \times चौड़ाई ९९६४० योजन हैं और उसकी परिधि ३१५०८९ योजन है । सर्व बाह्य मंडल की लम्बाई चौड़ाई १००६६० योजन है और उसकी परिधि ३१८३१५ योजन है । दोनों की लम्बाई चौड़ाई का अंतर है— $१००६६० - ९९६४० = १०२०$ योजन । १८३ मण्डलों में १०२० योजन लम्बाई चौड़ाई बढ़ती गई है । इसलिए १ मण्डल में $१०२० \div १८३ = ५\frac{३}{४}$ योजन । सर्वाभ्यन्तर मण्डल से आगे के सारे मण्डलों में $५\frac{३}{४}$ योजन प्रतिमण्डल से लम्बाई चौड़ाई बढ़ती गई है । वैसे ही दोनों मण्डलों की परिधि का अंतर है, $३१८३१५ - ३१५०८९ = ३२२६$ योजन । प्रत्येक मण्डल में $३२२६ \div १८३ = १७\frac{३}{४}$ योजन । सर्वाभ्यन्तर मण्डल से आगे प्रत्येक मण्डल में १८ योजन से कम ($१७\frac{३}{४}$) योजन परिधि बढ़ती जाती है ।

तापक्षेत्र

सूर्य का तापक्षेत्र कितना है ? इसका उत्तर मिलता है— $७८३३३\frac{३}{४}$ योजन । सूर्य जंबूद्वीप में प्रकाश करता है और लवण समुद्र के कुछ भाग तक भी प्रकाश करता है । मेरु पर्वत से ४५००० योजन जंबू द्वीप की जगती है और उससे आगे लवण समुद्र के $\frac{१}{४}$ भाग तक उसका ताप क्षेत्र है । लवण समुद्र २ लाख योजन का है । उसका $\frac{१}{४}$ भाग, $२०००० \div \frac{१}{४} = ३३३३३\frac{३}{४}$ योजन । जंबूद्वीप का ४५००० योजन तथा लवण समुद्र का $३३३३३\frac{३}{४}$ योजन । कुल मिलाकर $४५००० + ३३३३३\frac{३}{४} = ७८३३३\frac{३}{४}$ योजन ।

ताप क्षेत्र का संस्थान

जब सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डल में होता है तब उसके तापक्षेत्र का क्या संस्थान होता है ? ताप क्षेत्र का संस्थान ऊर्ध्वमुख कलंब (धतूरे) के पुष्प के समान होता है, जो भीतर से मेरु पर्वत के पास संकुचित तथा बाहर से लवण समुद्र में चौड़ा है । भीतर वर्तुल और बाहर चौड़ा है । भीतर अंकमुख संस्थान वाला तथा बाहर ऊर्ध्वमुख शकट संस्थान वाला तथा बाहर सर्ववाह्य मण्डल पर सूर्य गति करता है तब उसका संस्थान ऊर्ध्वमुख धतूरे के पुष्प के समान होता है ।

अन्धकार का संस्थान—

सर्वाभ्यन्तर बाहु में अन्धकार का संस्थान ऊर्ध्वमुख धतूरे के पुष्प के समान है ।

बन्ध २३, अंक ४

४३१

जैसा ताप क्षेत्र का संस्थान है वैसा ही अन्धकार का संस्थान है। अन्दर से संकुचित बाहर से चौड़ा है। अन्धकार की सर्वाभ्यन्तर बाहु मेरु पर्वत के पास $६३२४\frac{३}{८}$ योजन है।

एक युग में चन्द्रमा नक्षत्र के साथ ६७ बार योग करता है और सूर्य पांच बार योग करता है। अभिजित् नक्षत्र चन्द्र के साथ एक बार $९\frac{३}{८}$ मुहूर्त योग करता है। ६७ बार में $९\frac{३}{८} \times ६७ = ६३०$ मुहूर्त। एक अहोरात्रि के ३० मुहूर्त होते हैं। इसलिए ६३० मुहूर्तों के $६३० \div ३० = २१$ अहोरात्रि। अभिजित् नक्षत्र एक युग में २१ अहोरात्रि तक चंद्रमा के साथ योग करता है। सूर्य ५ बार योग करता है इसलिए इसमें ५ का भाग दिया $२१ \div ५ = ४$ अहोरात्रि ६ मुहूर्त। इसलिए सूर्य एक बार में अभिजित् नक्षत्र के साथ ४ अहो रात्रि ६ मुहूर्त तक योग करता है। जो ६ नक्षत्र चन्द्रमा के साथ १५ मुहूर्त योग करते हैं वे कुल $१५ \times ६७ = १००५$ मुहूर्त करते हैं। १००५ मुहूर्त = ३३ दिन १५ मुहूर्त। सूर्य ५ बार योग करता है। $३३\frac{३}{४} \div ५ = ६$ दिन २१ मुहूर्त। इस विधि से गणित करने पर चन्द्रमा के साथ और सूर्य के साथ कौन नक्षत्र कितने दिन और कितने मुहूर्त तक योग करते हैं निकल सकता है। सुविधा के लिए नीचे एक यन्त्र दिया जा रहा है—

	चन्द्र मुहूर्त	सूर्य अहोरात्रि	मुहूर्त
१. अभिजित्	$९\frac{३}{८}$	४	६
२. श्रवण	३०	१३	१२
३. धनिष्ठा	३०	१३	१२
४. शतभिषा	१५	६	२१
५. पू. भाद्रपद	३०	१३	१२
६. उ. भाद्रपद	४५	२०	३
७. रेवती	३०	१३	१२
८. अश्विनी	३०	१३	१२
९. भरणी	१५	६	२१
१०. कृत्तिका	३०	१३	१२
११. रोहिणी	४५	२०	३
१२. मृगशरा	३०	१३	१२
१३. आर्द्रा	१५	६	२१
१४. पुनर्वसु	४५	२०	३
१५. पुष्य	३०	१३	१२
१६. अश्लेषा	१५	६	२१
१७. मघा	३०	१३	१२
१८. पू. फ.	३०	१३	१२
१९. उ. फ.	४५	२०	३

२०. हस्त	३०	१३	१२
२१. चित्रा	३०	१३	१२
२२. स्वाती	१५	६	२१
२३. विशाखा	४५	२०	३
२४. अनुराधा	३०	१३	१२
२५. ज्येष्ठा	१५	६	२१
२६. मूल	३०	१३	१२
२७. पू. षाढा	३०	१३	१२
२८ उ. षाढा	१५	२०	३

युग की आदि प्रभात से होती है। युग की आदि में चन्द्रमा के साथ अभिजित नक्षत्र योग करता है। फिर क्रमशः नक्षत्र अपने-अपने मुहूर्त काल तक चन्द्रमा के साथ योग करते जाते हैं। एक नक्षत्र का कालमान पूर्ण होने पर दूसरा, तीसरा नक्षत्र क्रमशः योग करता जाता है।

गति—

चन्द्रमा से सूर्य की शीघ्र गति है। सूर्य से ग्रहों की शीघ्रगति है। ग्रहों से नक्षत्रों की शीघ्रगति है और नक्षत्रों से ताराओं की शीघ्र गति है।

ऋद्धि—

तारादेव से नक्षत्रदेव अधिक ऋद्धि वाले हैं। नक्षत्रों से ग्रह अधिक ऋद्धिवाले हैं। ग्रहों से सूर्य अधिक ऋद्धिवाले हैं और सूर्य से चन्द्रमा अधिक ऋद्धिवाले हैं।

अन्तर—

ताराओं में परस्पर अन्तर जघन्य पांच सौ धनुष और उत्कृष्ट दो कोश का अन्तर है। पर्वतादि का व्यवधान होने से जघन्य २६६ योजन ताराओं में अन्तर है। चार सौ ४०० योजन ऊँचा निषध पर्वत पर ५०० योजन कूट ऊँचा है, वे शिखर ऊपर २५० योजन चौड़े हैं, उससे २०० योजन दूर तारे हैं, इस प्रकार २६६ योजन होते हैं। पर्वतादि का व्यवधान होने से उत्कृष्ट १२२४२ योजन ताराओं में अन्तर है। १००००० दस हजार योजन का मेरु पर्वत चौड़ा है और मेरु से ११२१ योजन तारे हैं। इस प्रकार १२२४२ योजन ताराओं में अन्तर है।

चन्द्र को ८८ महाग्रह, २८ नक्षत्र और ६६९७५०००००००००००००००००० ताराओं का परिवार है। जम्बू द्वीप के मेरु पर्वत से ११२१ योजन दूर ज्योतिष चक्र मेरु के चारों तरफ परिभ्रमण कर रहा है।

लोक के अन्त से ११११ योजन दूर चारों तरफ फिरता ज्योतिष चक्र है। समभूमि से ७९० योजन ऊपर नीचे का तारारूप ज्योतिष चक्र है।

सूर्य का विमान समभूतल से ८०० योजन ऊपर है। चन्द्र का विमान समभूतल से ८८० योजन ऊपर है। ऊपर के तारे समभूतल से ९०० योजन गति करते हैं। चंद्रमा के ४ योजन ऊपर नक्षत्र पटल है, उसके चार योजन ऊपर बुध पटल है, उसके ३ योजन ऊपर बृहस्पति पटल है, उसके ३ योजन ऊपर मंगल है और उसके ३ योजन

ऊपर शानि है। इस प्रकार २० योजन में सभी ताराएं हैं। ताराओं से १० योजन ऊपर सूर्य गति करता है, उसके ८० योजन ऊपर चन्द्रमा चलता है। इस प्रकार तारा रूप सब ज्योतिष चक्र ११० योजन चलता है। सूर्य विमान से ८० योजन ऊपर चंद्रमा का विमान है और उससे २० योजन ऊपर तारा है।

अभिजित् नक्षत्र सब से आभ्यन्तर चलता है। मूल नक्षत्र सबसे बाह्य है। भरणी नक्षत्र सब से नीचा चलता है और स्वाति नक्षत्र सब नक्षत्रों से ऊंचा चलता है।

चन्द्रमा का विमान ऊर्ध्वमुख अर्धकविठ के फल के संस्थान से संस्थित है, स्फटिक रत्नमय, अभ्युद्गत उत्सित प्रभाव वाला है। चन्द्र का विमान $\frac{५}{६}$ योजन लम्बा चौड़ा गोलाकार है, $\frac{३}{६}$ योजन जाड़ा है। सूर्य का विमान $\frac{५}{६}$ योजन लम्बा चौड़ा है $\frac{३}{६}$ योजन जाड़ा है। दो कोस लम्बा चौड़ा और एक कोस जाड़ा ग्रहों का विमान है। एक कोस लम्बा चौड़ा और पाव कोस जाड़ा ताराओं का विमान है। ताराओं का यह प्रमाण उत्कृष्ट है जघन्य पांच सौ धनुष लम्बा चौड़ा और अढाइ सौ धनुष जाड़ा भी होता है।

संक्षेप

१. स्थानांग २।३२५
२. (क) समवायांग १५।३
(ख) भगवती १२।१२४
३. भगवती १२।१२३
४. स्थानांग, ८।११९
५. जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति ७।१३०, स्थानांग २।३२४
६. जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति ७।१३१
७. वही ७।१३२
८. ,, ७।१३३
९. ,, ७।१३४
१०. ,, ७।१३४
११. ,, ७।१३६
१२. जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति ७।१३७
१३. वही ७।१३७ से १८४
१४. ,, ७।१४८, १४९
१५. ,, ७।१५४
१६. ,, ७।१५६ से १६७
१७. सूर्य प्रज्ञप्ति १०।१२१
१८. ,, १०।१२०
१९. जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, १।१०३-११३
२०. ,, ७।११४

—मुनि श्रीचंद्र 'कमल'

आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों में 'आत्मा'

■ आनन्दप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर-परम्परा के आचार्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। दिगम्बर जैन परम्परा के मंगलाचरण में उनका स्थान गौतम गणधर के तत्काल बाद आना उनकी महत्ता की स्वीकृति है।¹ आगमिक पदार्थों की दार्शनिक दृष्टि से ताकिक चर्चा उन्होंने शुरू की—ऐसा उपलब्ध साहित्य सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है। उन्होंने आगमिक जैन तत्त्वों को तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराओं के प्रकाश में स्पष्ट किया और अन्य दर्शनों के मन्तव्यों का यत्र-तत्र निरसन करके जैन मन्तव्यों की विशेषता और उपादेयता सिद्ध की। जिससे श्रद्धा और बुद्धि दोनों को पर्याप्त मात्रा में परिपोषण मिला।

जैन आगमों में निश्चयनय प्रसिद्ध था तथा निक्षेपों में भाव निक्षेप भी विद्यमान था। भाव निक्षेप की प्रधानता से निश्चय का आश्रय लेकर जैन तत्त्वों के निरूपण द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द ने जैनदर्शन को तत्कालीन दार्शनिकों के समक्ष एक नये रूप में उपस्थित किया। निश्चय और भाव निक्षेप की प्रमुखता का आश्रय लेने पर द्रव्य और पर्याय, द्रव्य और गुण, धर्म और धर्मी, अवयव और अवयवी इत्यादि का भेद मिटाकर अभेद स्थापित किया। उनके ग्रंथों में निश्चयनय का प्रधानता से उल्लेख है और नैश्चायिक आत्मा के वर्णन में वेदान्त ब्रह्मवाद के निकट जैन आत्मवाद पहुँच गया है।

कुन्दकुन्दाचार्य अध्यात्म के पुरस्कर्ता हैं। उनकी कृतियों में अध्यात्म परिलक्षित होता है। पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार एवं नियमसार उनकी दार्शनिक कृतियाँ हैं। डॉ० सुपमा गांग ने अपने शोधग्रन्थ 'कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियों में दार्शनिक दृष्टि' में इन ग्रंथों की विवेचना करते हुए कहा है कि समयसार द्रव्यदृष्टि प्रधान है, प्रवचनसार पर्यायदृष्टि प्रधान, पंचास्तिकाय प्रमाणदृष्टि प्रधान तथा नियमसार साधक दृष्टि प्रधान है।² समयसार रचना के माध्यम से कुन्दकुन्दाचार्य ने आ मवाद का जो निरूपण किया है वह समस्त जैन वाङ्मय में अनुपम है। इसी कारण अध्यात्म प्रेमी जैन सांप्रदायिक भेदभाव को छोड़कर समयसार के अध्यात्म रस का पान करते हैं।

आत्मतत्त्व

जैन दर्शन में आत्मा का विवेचन तत्त्व विचार के रूप में आरम्भ होता है। जैन दर्शन में सात तत्त्व माने गये हैं, जिसमें प्रथम जीव या आत्मा है तथा अजीव सहित छः अभ्य तत्त्व हैं। उन सभी का महत्त्व जीव के कारण है। ये सात तत्त्व इस प्रकार हैं।³ जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। कुछ परम्पराओं में पाप-

तुलसी प्रज्ञा, लाडनू : खंड २३ अंक ४

पुण्य को लेकर नौ तत्त्व भी माने गये हैं। प्रवचनसार^{१५} के अनुसार जीव और अजीव दो ही तत्त्व हैं। सात तत्त्वों में जीव और अजीव दो ही प्रधान^{१६} तत्त्व हैं, शेष तत्त्व जीव और अजीव के पर्याय हैं। जीव और अजीव को सम्बद्ध करने वाले आस्रव और बन्ध हैं तथा उन्हें पृथक् करने वाले संवर और निर्जरा हैं। मोक्ष जीव की स्वतंत्र अवस्था का नाम है। इस प्रकार जीव या आत्मतत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अमृतचन्द्र आचार्य ने समयसार की आत्मख्याति टीका में कहा है—‘शुद्ध नय की अपेक्षा एक मात्र आत्मज्योति ही चमकती है, जो इन भव तत्त्वों में धर्मरूपेण अनुगत होते हुए भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती।’^{१७}

पंचास्तिकाय में आत्मा को जीव, चेतयिता और उपयोग वाला माना गया है।^{१८} समयसार में जीव को रस रहित, रूप रहित, गन्ध रहित, अव्यक्त तथा इन्द्रिय से जगोचर, चेतना गुणवाला, शब्द रहित और आकार रहित माना गया है।^{१९} अतः वह तो सहजानन्द स्वरूप सम्यक् दर्शन, ज्ञान चारित्रादि अनन्त गुणों का अखंड पिंड है। कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में आत्मा का विचार करते हुए कहा है—‘आत्मा जीव है, चैतन्य है, उपयोग वाला है, अपने किये हुए कर्मों का स्वामी है, पुण्य पाप कर्मों का कर्ता एवं उन कर्म फलों का भोक्ता, शरीर परिणामी, अमूर्तिक और कर्म संयुक्त है।’ कुन्दकुन्दाचार्य के उत्तरवर्ती आचार्यों ने आत्मा के इसी स्वरूप का अनुसरण किया है।

कुन्दकुन्दाचार्य के उत्तरवर्ती आचार्यों ने दो दृष्टियों से आत्म स्वरूप का विवेचन किया है—पारमाथिक दृष्टिकोण और व्यावहारिक दृष्टिकोण। दृष्टिकोण को जैन दर्शन में नय कहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से नय के दो रूप हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय।^{२०} कुन्दकुन्दाचार्य ने निश्चय नय को भूतार्थ अर्थात् वस्तु के शुद्ध स्वरूप का ग्राहक और व्यवहार नय को अभूतार्थ अर्थात् वस्तु के अशुद्ध स्वरूप का विवेचक कहा है।^{२१} आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विवेचन शुद्ध निश्चय नय से और उसके अशुभ स्वरूप का विवेचन व्यवहार नय तथा अशुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से किया गया है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विवेचन कुन्दकुन्द ने भावात्मक एवं निषेधात्मक दोनों दृष्टियों से किया है। भावात्मक दृष्टि से उन्होंने बताया है कि आत्मा क्या है? और अभावात्मक दृष्टि से बताया है कि आत्मा क्या नहीं है। निश्चयनय की भावात्मक दृष्टि से शुद्धात्मा बंधहीन, निरपेक्ष, स्वाश्रित, अचल, निसंग एवं ज्ञापक ज्योतिमात्र है।^{२२} और अभावात्मक दृष्टि से वह वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान आदि नहीं है।^{२३} नियमसार में भी आत्मा को निग्रंथ, वीतराग, निःशत्य स्वरूप मान कर दोष, काम, क्रोध, मान, माया एवं भेदरहित कहकर निश्चयनय के भावात्मक एवं निषेधात्मक स्वरूप को पुष्ट किया गया है।^{२४}

व्यवहारनय की दृष्टि से अशुद्ध या संसारी आत्मा का स्वरूप भी स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से अद्यवसाय आदि कर्म से विकृत भावों को आत्मा कहा गया है। जीव के एकेन्द्रियादि भेद, गुणस्थान, जीव, समास एवं कर्म के संयोग से उत्पन्न गौरादिवर्ण तथा जरादि अवस्थाएं और नर-नरकादि पर्याय अशुद्ध आत्मा के होते हैं।^{२५} पंचास्तिकाय में आत्मा का स्वरूप बतलाते हुए कुन्दकुन्द ने कहा है कि आत्मा चैतन्य तथा उपयोग स्वरूप, प्रभु, कर्ता, देह प्रमाण, अमूर्तिक एवं कर्म संयुक्त है।^{२६}

आत्मा के स्वरूप को लेकर कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रंथों में निम्न निष्कर्ष देखे जाते हैं—

१. चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, आगन्तुक नहीं है। न्याय वैशेषिक दर्शन में आत्मा को जड़ स्वरूप मानकर चैतन्य को उसका आगन्तुक लक्षण माना है किन्तु कुन्दकुन्द ने जैन चिंतन के अनुसार ही चैतन्य और आत्मा को भिन्न-भिन्न न मानकर एक माना है। चैतन्य आत्मा उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप है जिस प्रकार अग्नि उष्ण स्वभाव वाली है। द्रव्य और गुण भिन्न-भिन्न नहीं है। आत्मा भी एक द्रव्य है और चैतन्य उसका गुण होने के कारण चैतन्य आत्मा से पृथक् नहीं माना जाता। इसी कारण से ज्ञान और आत्मा में कोई भिन्नता नहीं है।^{१०}
२. आत्मा स्व पर प्रकाशी है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान स्व के साथ-साथ पर को भी प्रकाशित करता है। जैसे सूर्य या दीपक अपने आपको प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तथा पर-पदार्थों को प्रदर्शित करता है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रथम जैन आचार्य हैं जिन्होंने ज्ञान को सर्वप्रथम स्वपर प्रकाशक मानकर इस चर्चा का सूत्रपात किया।^{११}
३. आत्मा चैतन्य के समवाय सम्बन्ध से चैतन्यवान नहीं है। जो स्वयं जड़ है। वह चैतन्य के संबंध से चैतन्यवान एवं ज्ञानी कैसे कहला सकता है? यहाँ पर कुन्दकुन्दाचार्य प्रश्न करते हैं कि आत्मा ज्ञान नामक गुण से संबंध होने के पहले ज्ञानी था या अज्ञानी? यदि आत्मा ज्ञान से संबंध के पहले ज्ञानी था एवं ज्ञान के समवाय संबंध से आत्मा के ज्ञानवान होने की कल्पना करना व्यर्थ ही है।^{१२} यदि अचेतन आत्मा चैतन्य के समवाय संबंध से चैतन्यवान हो जाता है तो घटादि पदार्थ भी जड़ होने से आत्मा की तरह चैतन्यवान होने चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता है अतः जड़ आत्मा चेतना संबंध से चैतन्यवान नहीं होता।
४. जीव एक ब्रह्म का अंश नहीं है^{१३} जैसा अद्वैत वेदांत में माना गया है। कुन्दकुन्द वेदांत की इस मान्यता से सहमत नहीं हैं कि जिस प्रकार एक ही चंद्रमा बहुत से जल के घड़ों में भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देता है, वैसे एक ही जीव बहुत से शरीरों में भिन्न-भिन्न रूप से दिखाई देता है। जैन दर्शन वेदांत की तरह एकात्मवादी नहीं अपितु अनेकांतवादी है।
५. आत्मा मूर्तिक और अमूर्तिक भी है। कुन्दकुन्द ने आत्मा का वर्गीकरण अमूर्तिक द्रव्यों में किया है।^{१४} आत्मा को अमूर्तिक कहने का तात्पर्य है पुद्गल के गुण रूपादि से रहित होना। अतः शुद्ध आत्मा ही अमूर्तिक है पर केवल आत्मा को अमूर्तिक मानने से वह आकाश की तरह कर्मबंध रहित हो जायेगा। चूंकि आत्मा कर्मबंध रहित नहीं है। कहा गया है—'व्यवहारेण कर्मभिः सहैकत्वपरिणामान्मूर्तोऽपि निश्चयेन नीरुपस्वभावत्वान्नहि मूर्तः।'^{१५} अतः सिद्ध है कि निश्चय नय की अपेक्षा आत्मा अमूर्तिक है और व्यवहारनय की दृष्टि से अनादि काल से दूध और पानी की तरह आत्मा और कर्म के मिले रहने के कारण आत्मा मूर्तिक

भी है। आचार्य पूज्यपाद ने भी कहा है कि आत्मा के अमूर्तत्व के संबंध में अनेकांत है। आत्मा कथंचित् मूर्तिक है और कथंचित् अमूर्तिक।^{२३}

आत्मा की व्यापकता

जैनदर्शन में आत्मा को कथंचित् सर्वव्यापी माना गया है। आत्मा ज्ञान स्वरूप होने से ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान ज्ञेय प्रमाण कहा गया है, ज्ञेय लोकोलोक है। इसलिए ज्ञान सर्वगत है।^{२४} आत्मा कथंचित् ही सर्वगत है। वैसे तो आत्मा को देह परिणामी ही माना गया है। उपनिषदों में भी आत्मा को नख से शिख तक व्याप्त माना गया है। पंचास्तिकाय तात्पर्य वृत्ति में कहा गया है—

‘सर्वत्र देहमध्ये जीवोऽस्ति न चैकदेशे।’^{२५}

आत्मा को देह प्रमाण मानने से तात्पर्य आत्मा को अपने संचित् कर्म के अनुसार जितना छोटा-बड़ा शरीर मिलता है, उस पूरे शरीर में व्याप्त होकर बह रहता है। शरीर का कोई भी अंश नहीं, जहाँ जीव न हो। जीव में संकोच विस्तार करने की शक्ति होती है। प्रश्न यह है कि आत्माओं के संकोच-विस्तार का कारण क्या है? पंचास्तिकाय में कहा गया है कि कर्मण शरीर के कारण संसारी आत्मा संकोच-विस्तार शक्ति से देह प्रमाण है।

आत्मा कर्ता, भोक्ता एवं प्रभु है

आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव के कर्तृत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है।^{२६}

कर्म संयुक्त होने की अपेक्षा जीव के प्रभुत्व गुण के विषय में कहा है कि अनादिकाल से कर्म संयुक्त जीव, भाव और द्रव्य कर्मों के उदय से शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और भोक्ता होता हुआ शांत तथा अनन्त चतुर्गति रूप, संसार में मोह से आच्छादित होकर भ्रमण करता रहता है। जिनेन्द्रदेव द्वारा बतलाये मार्ग पर चलकर जीव समस्त कर्मों को उपशम और क्षीण करके विपरीत अभिप्राय को नष्ट कर प्रभुत्व-शक्तियुक्त होता है और ज्ञान मार्ग में विचरण करता हुआ आत्मीय स्वरूप मोक्ष मार्ग को प्राप्त करता है।^{२७} आत्मा के इस विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि जीव ईश्वर की प्रेरणा से शुभ-अशुभ कर्म नहीं करता है।^{२८}

आत्मा की सर्वज्ञता

जैनदर्शन में सर्वज्ञता संबंधी विचार अत्यन्त प्राचीन हैं। ज्ञान स्वभाव आत्मा के निरावरण होने पर अनन्त ज्ञान या सर्वज्ञता स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जाती है। कुन्दकुन्दाचार्य ने वीतरागी केवलज्ञानी को समस्त पदार्थों का युगपत् द्रष्टा कहा है। उन्होंने नियमसार के शुद्धोपयोगाधिकार^{२९} में कहा है—‘केवली भगवान् समस्त पदार्थों को जानते और देखते हैं’, यह कथन व्यवहारनय की अपेक्षा से है लेकिन निश्चय नय से वे अपने आत्म स्वरूप को जानते और देखते हैं।’ तार्किक युग में समन्तभद्राचार्य, सिद्धसेन, अकलंकदेव, हरिभद्र, वीरसेन, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्रादि ने प्रबल युक्तियों से सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध किया है।

आत्मा के भेद

कुन्दकुन्दाचार्य ने सामान्य की अपेक्षा से आत्मा का एक भेद और विस्तार की

अपेक्षा से दस भेद किये हैं—

‘एको चेव महप्पा सो दुवि यप्पोत्ति लक्खणो होदि ।
चदु चकमणो भणिदो पंचग्गुणप्पथाणो य ॥
छक्कापक्कमजुत्तो उवउत्तो सत्तभंग सवभावो ।
अट्टासओ णवत्थो जीवो दस ट्टाणयो भणिदो ॥’

पंचास्तिकाय गा. ७१-७२

वह जीव महात्मा चैतन्य या उपयोग सामान्य की अपेक्षा एक प्रकार का है । ज्ञान, दर्शन या संसारी-मुक्त तथा भव्य-अभव्य या पाप-पुण्य की अपेक्षा से दो प्रकार का है । ज्ञान चेतना, कर्म चेतना, कर्म फल चेतना, उत्पाद-व्यय ध्रौव्य या द्रव्य-गुण-पर्याय की अपेक्षा से तीन प्रकार, चार गतियों (मनुष्य, देव, तिर्यञ्च, नारक) में भ्रमण करने की अपेक्षा या एकेन्द्रिय आदि की अपेक्षा से पांच प्रकार, छः दिशाओं में उपक्रमयुक्त होने के कारण छह प्रकार, और सप्तभंगी से सिद्ध होने के कारण सात प्रकार का है । आठ कर्म या सम्यक्त्वादि आठ गुणयुक्त होने के कारण आठ प्रकार का है । नौ पदार्थों रूप परिणमन होने के कारण नौ प्रकार का है । पृथ्वी आदि पांच एकेन्द्रियादि पांच इन दस स्थानों को प्राप्त होने के कारण दस प्रकार का है । ❀

संदर्भ

१. मङ्गलं भगवान वीरो मङ्गलं गौतमी गणी ।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यः जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
२. पुरोवाक् पृ. ७
३. तत्वार्थ सूत्र १।४
४. प्रवचनसार २।३५
५. समयसार, गा. १३
६. समयसार : आत्मरूपाति टीका कलश ७
७. ‘जीवो ति ह्वदि चेदा उवओगविसेसिदो’ (पं. मू. १०९)
८. समयसार मू. ४९
९. पंचास्तिकाय, गा. २७
१०. देवसेन : नयचक्र, गा. १८३
११. समयसार, गा. ११
१२. ” १४-१५
१३. ” ५०, नियमसार ३।३८-४६
१४. गिग्गंधो णीरागो गिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मको अप्पा ॥
नियमसार ३।४४
१५. समयसार, ५६-५७
१६. पंचास्तिकाय, २७
१७. प्रवचनसार १।२७
१८. नियमसार १६६-१७२

खण्ड २३, अंक ४

४४१

१९. पंचास्तिकाय, ४९
 २०. " , १११, वृ. ७१
 २१. " , ९७
 २२. " , तत्त्व दीपिका टीका, २७
 २३. सर्वार्थसिद्धि, २।७
 २४. प्रवचनसार, २३, २७
 २५. पंचास्तिकाय, ता. ५, पृ. ७२
 २६. पंचास्तिकाय तत्त्वदीपिका, २७
 २७. पंचास्तिकाय, ता. वृ. ७०
 २८. स्याद्वाद मंजरी, का. ७
 २९. नियमसार गा. १५९

— डा. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'
 असिस्टेंट प्रोफेसर
 जैन विश्व भारती संस्थान,
 लाडनू-३४१३०६ (राज.)

जैन पद-साहित्य में पार्श्वनाथ

श्रीमती मुनि जैन

हिन्दी साहित्य में पद साहित्य का विशिष्ट महत्व है। पद का मूल आधार संगीतमय होता है, जो विभिन्न प्राचीन राग-रागनियों पर आधारित होता है। इस में 'टेक' का प्रयोग जरूर होता है। हिन्दी साहित्य के मूल सृष्टा जैन कवियों ने पद साहित्य को काफी समृद्ध किया है। जैन परम्परानुगामी पद साहित्य में आराध्य की आराधना का उद्देश्य अन्य उपासकों से थोड़ी भिन्नता लिये हुये रहता है।

तीर्थंकरों की भक्ति में आराध्यक उनकी उन्नत जीवन भाँकी को स्मरण करता है, तथा उनके विशेष गुणों की स्तुति करता हुआ अपने को उस योग्य बनने के भाव संजोता है। आत्म निवेदन, अर्न्तमुखी आनन्द के क्षण जीवन में दुर्लभ होते हैं, जब व्यक्ति अपने आराध्य के साथ अभिन्न प्रतीत होता दिखाई देता है।

तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे। इनकी लोकप्रियता राम-कृष्ण की तरह लोक जीवन पर गहरी थी अतः उनके जीवन चरित एवं गुणों की स्तुति को पद साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

जन-जन की आस्था पारसनाथ के साथ जुड़ी हुई थी। जैन कवियों के अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी का सूत्रपात करने वाले प्रसिद्ध जैनेतर कवि भारतेन्दु हरिचन्द्र ने भगवान् पारसनाथ की स्तुति में निम्न पद रचा है जो बहुत लोकप्रिय है—

तुमहि तौ पार्श्वनाथ हो पियारं

तड़पन लागै प्राण बगल तै छिनहु होत न न्यारे ॥

तुम सौ और पास नहि कोउ मानहु करि पतियारे ।

हरीचन्द खोजत तुम ही को वेद-पुरान पुकारे ॥

इस पद में उन्होंने अपनी अंतस की आत्मानुभूति को प्रभु पार्श्व भक्ति में समर्पित किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने तीर्थंकर ऋषभदेव तथा अर्हित देव के प्रति भी अपनी दृढ़ श्रद्धा व्यक्त करते हुये पद लिखे हैं जो भारतेन्दु संग्रह (भाग २) नामक ग्रन्थ तथा उनकी अन्य रचनाओं में संकलित है।

कवि भूनकलाल (सं० १९४४) ने पार्श्व प्रभु जी और उनकी जन्मभूमि बनारस की महिमा के सम्बन्ध में अनेक कवित्तों की रचना की। उनकी कृति की एक प्रति दिल्ली के श्री पंचायती मंदिर में सुरक्षित है।^१ इसमें कवि ने निम्नलिखित कवित्तों में बनारस की महिमा एवं तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मनोहरी छवि का अपनी उन्नत कल्पना से भव्य वर्णन किया है—

तुलसी प्रज्ञा, लाडनूँ : खंड २३, अंक ४

नगर बनारस जहां विराजै, वहै सुगंगा गहर गंभीर ।
उज्जल जल करि शोभा मंडित परे निवारे किस्ती वीर ॥
कंचन रत्न जड़ित अति उन्नत, स्वेत वरन पुल लसै सुधीर ॥
वन उपवन करि शोभा सोभित अरु विसराम सुना के तीर ॥
रूप के रंग मानी, गंग की तरंग सम,
इन्द्र दुति अंग ऐसे जल सुहात है,
ससिकी सी किणि किधौ, मेह तट भरनि किधौ,
अंबर की मनि किधौ मेघ वरषात है,
हीरा सम सेत छवि हरि लेत किधौ
मुक्ता दुति देषि मन मरसात है
सिव तिय अपने पति के सिगार देखि,
करतु कटाछु, ऐसे चमर फररात है ।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जन्म महोत्सव के समय सर्वत्र प्रसन्नता का वातावरण है ।
महाकवि दौलतराम मां बामा के घर में इस जन्मोत्सव का सजीव चित्रण करते हुए
कह रहे हैं कि—

वामा घर बजत बधाई, चलि देखि री माई ।
सुगुन रास जग आस भरन तिन, जने पार्श्व जिनराई ।
श्री ही धृति कीरति बुद्धि लक्ष्मी, हर्ष अंग न माई ॥
तांडव नृत्य नटत हरिन तिन, लख-नख सुरी नचाई ।
किन्नर कर-घर बीन बजावत, दृगमन हर छवि छाई ॥
“दौल” तासु प्रमू की महिमा सुर, गुरु पै कहिय न जाई ।
जाके जन्म समय नरकन में नारकि सातापाई ॥

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान, मोक्ष—इन पांच कल्याणकों
को ध्यान में रखकर १७ वीं शताब्दी के “वाचक जयनिधान” कृत वाराणसी-
पार्श्वनाथ स्तवनम् के कुछ पद बड़े ही महत्वपूर्ण हैं*

पास जिणेंसर वंदियई, जसु मुख पूनिमचंदी रे ।
सामल वरण सुहामणउ, पेखत होई आणंद रे ॥१॥
पूरब देशि वाणारसी निधिरस रस ससि (१६६९) मानइ रे ।
पास जिणंद जुहारिया, संवच्छरि इक तानइ रे ॥८॥
अरि करि हरि जल केसरी, रोग जलण भय जाए रे ।
पास जिणेंसर ध्यावतां, सुख संपति घरि थाए रे ॥९॥
“जयनिधानवाचक” भणइ, पास चरण चित लाई रे ।
काय अनइ वचनइ करी, अह्निसि तुम्ह सेवा भाई रे ॥१०॥

महाकवि दौलतराम ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ के दर्शन करने से हुई सुखद आत्मा-
नुभूति को कोमल पदावली में इस प्रकार व्यक्त किया है*

पारस जिन चरण निरख, हरख यों लहायो ।
चितवन चन्दा चकोर ज्यों प्रमोद पायो ॥

ज्यों सुन घनघोर शोर, मोर हर्षकी न ओर,
रंक निधि समाजराज पाय, मुदित थायो ॥ पारस॥
ज्यों जन थिर क्षुधित होय, भोजन लखि सुखित होय,
भेषज गदहरण पाय, सुरज सुहरखायो ॥ पारस॥
वासर भयो धन्य आज, दुरित दूर परे भाज,
शान्तदशा देख महा, मोहतम पलायो ॥ पारस.
जाके गुन जानत जिम, भानन-भवकानन इम,
जान 'दोल' शरन आय, शिव सुख ललचायो ॥ पारस जिन०॥

कवि की आत्मानुभूतिपूर्ण प्रसन्नता अनुभव गम्य और इन्द्रियातीत एवं अन्तर्मुखी है। ऐसे क्षण विरलों को ही प्राप्त होते हैं।

महाकवि दौलतराम ने अपने पदसंग्रह में पार्श्वनाथ के गुणगान करते हुए उनके प्रति अपनी भक्ति प्रकट की है।

प्रत्येक मनुष्य प्रातः उठकर अपने परम आराध्य का स्मरण करता है, उनके गुणों का मनन, चिन्तन करना श्रेष्ठ समझता है। अतः प्रातः सर्व प्रथम पार्श्व प्रभु को स्मरण करके ही मन की सुख शान्ति की प्राप्ति हेतु उनकी आराधना करने की प्रेरणा देते हुये जिनदास कवि ने यह पद लिखा है—

भोर भयो उठि भज रे पास ।
जो चाहे तूं मन सुख वास ॥
चंद्र किरण छवि मंद परी है
पूरब दिशि रवि किरण प्रकास ॥ भोर भयो०॥
ससि अर विगत भये तारे ।
निश छोरत है पति आकाश ॥ भोर भयो ॥
सहस किरण चहुं दिश पसरि है
कवल भये वन किरण विकास ॥ भोर भयो०॥
पंखीयन ग्रास ग्रहण कूं उडै ।
तमचुर बोलत है निज भास ॥ भोर भयो०॥
आलस तजित भजि साहिब (पारस) कूं
कहै "जिन" हर्ष फलै जु आस ॥ भोर भयो०॥

प्रसिद्ध तत्वज्ञ श्री आनन्दघन जी ने "पारसनाथ" में ही सभी देवों के दर्शन किये हैं। उनके अनुसार दयालु सम्यग्दृष्टि होकर जो आत्मरूप (अमृत सौन्दर्य) का संस्पर्श करता है वही "पार्श्व" है। "पार्श्व" ही सिद्धि मोक्ष मार्ग की ओर ले जाने में समर्थ है।

राम कह्यो, रहमान कह्यो कोउ, कान कह्यो महादेव री ।
पारसनाथ कह्यो कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वमेव री ॥
निजपद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहिमान री ।
कर्षे कर्म कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री । टेक ॥

परसे रूप पारस सौ कहिए, ब्रह्म चिन्है सौ ब्रह्म री ।

इह विधि साधो आप “ आनन्दधन ” चेतनमय निष्कर्म री ॥ टेक ॥

श्रीमद् देवचन्द्र जी ने चतुर्विंशति जिनस्तवन में पार्श्वनाथ को ज्ञानादि गुणों के सागर तथा केवलज्ञान रूप हीरे का जनक कहते हुये स्तवन किया है—

सहज गुण आगरो स्वामी सुखसागरो, ज्ञान वैयरागर प्रभु सवायो ।

शुद्धता एकता तीक्ष्णता भावधी, मोहरिपु जीति जयपड हवायो ॥

भक्तों की दृष्टि में पार्श्व प्रभु की महिमा अपरम्परा है । उनके दर्शन मात्र से सभी प्रकार के पातक छिन भर में दूर हो जाते हैं । वे भक्तों को सुख प्रदान करने वाले हैं । इसलिए कविराय घानतराय जी ने पार्श्व प्रभु की स्तुति करते हुए लिखा है—

हमको प्रभु श्रीपास सहाय

जावो दर्शन देखत जब ही, पातक जाय पलाय ॥ हमको ॥

जावो इन्द्र फनिद चक्रधर, बंदै सीस नवाय ।

सोई स्वामी अंतरजामी, भव्यनि को सुखदाय ॥ हमको ॥

जाके चार घातिया बीते, दोष जुगये विलाय ।

सहित अनन्त चतुष्टय साहिव, महिमा कहीं न जाय ॥ हमको ॥

ताकी या वडो मित्यो है, हमको, गहि रहिये मन लाय ।

“घानत” अवसर बीत जायगो, फेर कछु न उपाय ॥

सोई स्वामी अंतरजामी भव्यनि को सुखदाय ॥ हमको ॥

इसी तरह राजस्थानी में ‘पार्श्वनाथ जिनस्तवन’ नामक दर्शन स्तुति कवि “गुणसागर” द्वारा रचित है । इसमें कवि ने पार्श्वनाथ भगवान को संकट एवं पाप निवारण कर्ता के रूप में प्ररूपित करते हुए उनके गुणगान करते रहने की कामना की है—

पास जी हो पास दरसण की बलि जाइयँ,

पास मनरंगी गुण गाइयँ ।

पास बाट घाट उद्यान में, पास नागै संकट उपसमै

पास मनरंगी गुण गाइये ।

उपसमै संकट विकट कष्टक, दुरित पाप निवारणो

आणंद रंग विनोद वारू, अषै संपति कारणो ॥ पा० ॥

जैन कवि आराधना, भक्ति करते समय पार्श्वप्रभु के गुणों की स्तुति करते हुये, संसार के भोगों की कामना करके निज पद (आत्मा) की पहिचान करने तथा मोक्षमार्ग पर जाने के लिए प्रेरणा चाहते हुये लिखते हैं—

१. पार्श्व प्रभु तुम्है पुकारूं मैं ।

ऐसी मति दो एक बार निज, स्वपद निखारूं मैं.....॥

भव समुद्र दल-दल से निकरूं रूप निखारूं मैं ।

जजर तरणी डगमग डोले, पार उतारूं मैं ॥

कर्मशत्रु शिवसुख के दाता, इन्हें पुकारूं मैं ।

सिद्धशिला पर पास तुम्हारे नाथ पधारूं मैं ॥

तुलसी प्रज्ञा

२. प्रभु का जो नित भजन करे ।

पार्श्वनाथ को नाम लेत ही, संकट सकल टरै.....॥

निज स्वभाव छवि देखत उर में, मोद प्रमोद भरें ।

जब तक शिवपद मिले न तब तक, प्रभु पद नमन करें ॥

शुक्लध्यान धर क्षपकश्रेणी चढ़ जो निज भाव वरें ।

महामोक्षपद पखें उनके, आठों कर्म जरें ॥

३. पार्श्व प्रभु परम वीतरागी ।

भव तन भोगों से उदास हो, वन गये वीरागी ॥

तुम दर्शन से मेरे उर में निज महिमा जागी

भाव सहित प्रभु चरण पखारूं, बुझे कर्म आगी ॥ पार्श्वप्रभु ॥

तेरापंथ (श्वेताम्बर परम्परा) के यशस्वी आचार्य जयाचार्य ने स्वरचित चौबीसी वन्दना में पार्श्वप्रभु के दर्शन भाग्य से प्राप्त होते हैं, इस तरह की भावाभिव्यक्ति करते हुये संवत् १९०० में यह रचना लाडनू (राज०) नगर में रची । यह वन्दना दृष्टव्य है—

पारस देव तुम्हारा दर्शन भाग भला सोई पावै हो ।

भाग भला सोई पावै, हूं वारि जाऊं

जीव मगन हो ज्यावै हो पारस देव ।

लौह कंचन करै पारस काचो, ते कहो कर कुण लेवै हो ।

पारस तू प्रभु साचो पारस, आप समो कर देवै हो ॥ १ ॥

फटिक-सिंहामणि सिंह आकारे, बैस देशना देवै हो ।

वन-मृग आवै वाणी सुणवा, जाणक सिंह नै सेवै हो ॥ ३ ॥

अन्त में माणकचंद पाटनी का मनोहरी पद—

“तुमसे लागी लगन” रहे मेरी पार्श्व जिनंद ।

जागूं या रहूं नींद में सुमरूं वामा नंद ॥

तुम सुमरे सब सुख मिले, तुमको सुमरे संत ।

तुम ही हो माता-पिता तुम ही हो मेरे कंत ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्श्व प्रभु से संबंधित इन पदों में जहां उनकी सम्पूर्ण भारत व्यापी लोकप्रियता दृष्टिगत होती है वहीं भक्तों के हृदयों में अपने और अपने जीवन के प्रति एक आश्वासन, तसल्ली, जागरूकता, श्रद्धा और आस्था प्राणवान हो उठती है ।

संदर्भ

१. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (डॉ० कामता प्रसाद जैन)
पृ० २०१
२. अध्यात्म पद पारिजात पृ० १७६
३. वाराणसी-जैनतीर्थ ले० भंवर लाल नाहटा, वीरनिर्वाण सं० २५०२
प्रकाशक—श्री जैन संस्कृति कलामंदिर—पी २५, कलाकार स्ट्रीट कलकत्ता ७
४. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन पृ० ७८
५. अध्यात्म-पद-पारिजात पृ० ३० प्रकाशक गणेशवर्णी संस्थान, नरिया,
वाराणसी १९९६
६. हिन्दी जैन साहित्य का सं० इतिहास (डॉ० कामता प्रसाद जैन) पृ० ७२
७. जिनेन्द्रभक्ति गंगा पृ० ३१५-३१७-३२०) प्रकाशक जैन साहित्य सदन, श्री
दिग० जैन लाल मंदिर, चांदनी चौक, दिल्ली)
८. वन्दना—रचयिता माणिक चन्द पाटनी “पंकज” प्रकाशक कमलकुमार
बडजात्या ६ हनुमान मार्केट आगरा गेट, अजमेर
— डॉ० (श्रीमती) मुन्नी जैन
बी-२३/४५ शारदा नगर कॉलोनी
नवावगंज मार्ग, वाराणसी-१०

राजस्थान में जैन मन्दिरों की आर्थिक व्यवस्था (हस्तिकुण्डी अभिलेखों के सन्दर्भ में)

सोहन कृष्ण पुरोहित

हस्तिकुण्डी नगरी जवाई बांध से १४ किलोमीटर दूर स्थित बीजापुर ग्राम से सवा तीन किलोमीटर की दूरी पर है। वर्तमान में इस उजड़ी नगरी का नाम हथ्रुण्डी है। यह जैन तीर्थ ऐतिहासिक, पुरातात्विक एवं धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थल है।^१ यहां से उल्लिखित अभिलेख प्राप्त होने और रातामहावीर जी की प्रतिमा की विशिष्ट प्रतिष्ठा के कारण इसकी प्रसिद्धि है। हस्तिकुण्डी से वि. सं. ९९६, १०५३, १३३५, १३३६, १३४५, १३४६ १२९९, १०११, १०४८ और ११२२ के अभिलेख मिले हैं। इन अभिलेखों को कीलहार्न, मुनिजिनविजय, पूरण चन्द नाहर, डॉ. गोपीनाथ शर्मा, डॉ. सोहनलाल पटनी के अलावा सुखवीर सिंह गहलोत डॉ. सोहन कृष्ण पुरोहित एवं डॉ. नील कमल शर्मा ने प्रकाशित किया है।^२ डॉ. सोहन लाल पटनी ने अपने ग्रन्थ में हस्तिकुण्डी के कुछ नये शिलालेखों का भी प्रकाशन किया है।

हस्तिकुण्डी से प्राप्त अभिलेखों से प्राचीन काल में राजस्थान के जैन मन्दिरों की संचालन-व्यवस्था सम्बन्धी महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। वि. सं. १०५३ के धवल के शिलालेख से ज्ञात होता है कि जैन आचार्य अपने शिष्यों को मन्दिर निर्माण हेतु प्रेरणा देते थे। राज परिवार के लोग तुलादान के माध्यम से धन की व्यवस्था करते थे। राजकुमार मम्मट ने भी आचार्य वासुदेव की इच्छा का आदर करते हुए मन्दिर बनवाने को स्वर्णदान दिया।^३ जिसका २/३ भाग जिन (तीर्थङ्कर) को और शेष भाग पूज्य गुरुदेव को समर्पित किया।^४ कई बार राज परिवार के लोग मन्दिर के दैनिक व्यय की पूर्ति हेतु भूमि अथवा कुंआ भी दान में दे देते थे। हस्तिकुण्डी अभिलेख से संकेतित है कि धवल ने पीपला गांव का कुंआ जैन मन्दिर को भेंट किया।^५ प्रो. के. सी. जैन एवं डॉ. सोहन लाल पटनी का विचार है कि यहाँ श्लोक का अर्थ पिप्पल गांव का कुंआ नहीं अपित पिप्पल नामक कंआ मानना चाहिये।^६ वासुदेव अत्यन्त तेजस्वी आचार्य थे। उनके उपदेश से प्रभावित होकर हरिवर्मा के पुत्र राजा विदधराज ने विशाल एवं सुन्दर ऋषभदेव के मन्दिर का उद्धार किया। यह मन्दिर मणियों से से दीप्त एवं धुंधराले केशों से युक्त सुन्दर स्त्रियों के मुख मण्डल की तरह मनोहर प्रतिभासित था।^७

विदधराज द्वारा निर्मित मन्दिर के जीर्ण होने पर राजा धवल ने उसमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की प्रतिमा वि. सं. १०५३ में स्थापित की।^८

तुलसी प्रज्ञा, लाडनू : खंड २३, अंक ४

मन्दिर का निर्माण हो जाने पर उसमें पूजा इत्यादि की व्यवस्था करने हेतु धन की आवश्यकता पड़ती थी। इसके लिए कई तरह की व्यवस्था की जाती थी। इस सम्बन्ध में वि. सं. १७३ एवं १९६ के शिलालेख से ज्ञान वर्द्धक जानकारी मिलती है। इस अभिलेख में कहा गया है कि हस्तिकुंडी नगरी में श्री बलभद्र गुरु के लिये विदग्धराज ने जिन मन्दिर का निर्माण करवाया। उस मन्दिर में नाना देशों से आये हुए जन समुदाय को आमन्त्रित कर उनकी साक्षी में चन्द्र सूर्य की स्थिति तक राजा ने आज्ञा प्रसारित की कि बीस पोठों के क्रय-विक्रय तथा आयात-निर्यात पर घर्माथं नित्य एक रुपया देय होगा।^{१०} भरी हुई गाड़ी के यहां से गुजरने पर एक रुपया देना होगा तथा प्रत्येक घाणी तथा अरहट पर एक कर्ष सबको रीति के अनुसार देना होगा।^{११} पान विक्रेताओं तथा जुआरियों को प्रत्येक अड्डे के लिए १३ चोलिका^{१२} मन्दिर हेतु शासन को देना होगा। डॉ० दशरथ शर्मा का मत है कि चोलिका शब्द का राजस्थान के अभिलेखों में अन्यत्र भी प्रयोग किया गया है जिसका तात्पर्य बाहर से मंगाई जाने वाली पान की टोकरी से था और जिस पर ५० पान के पत्तों का सरकारी टैक्स था।^{१३} हस्तिकुंडी में प्रत्येक अरहट से गेहू व जौ से भरा हुआ आठक लेने की व्यवस्था की गई थी।^{१४} भैंस पर पांच पालिकाएँ एवं प्रत्येक भार^{१५} पर कौड़ी का २० वां भाग मन्दिर हेतु लिया जाता था। इस प्रकार मन्दिर की जो आय होती उसके २ भाग मन्दिर हेतु तथा शेष तीसरा भाग आचार्य हेतु अर्थात् विद्याध्ययन पर खर्च किया जाता।^{१६} इस अभिलेख में कहा गया है कि राजा, उसके पुत्रों, पौत्रों, गोष्ठिकों तथा नगर-वासियों को गुरु एवं देव धन की रक्षा करनी चाहिए। दान देने में फल है दान से भी अधिक उसके पालन में फल है। गुरु तथा देवता के धन को खाने और उसकी उपेक्षा करने से पाप होता है।^{१७}

हस्तिकुंडी के अभिलेखों में गोष्ठिक^{१८} तथा पंचकुल^{१९} शब्द आये हैं जो मन्दिर की आर्थिक गतिविधियों की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। गोष्ठी प्राचीन काल में स्वायत्त संस्था होती थी जिसके सदस्य गोष्ठिक कहलाते थे। हस्तिकुंडी के मन्दिर की गोष्ठी ने भी जैन मन्दिर के जीर्णोद्धार में महत्वपूर्ण योगदान दिया था।^{२०}

वि. सं. १०४८ के अभिलेख से संकेतित है कि श्री शान्ति भद्राचार्य द्वारा गठित गोष्ठी ने मंडप का निर्माण करवाया।^{२१} गोष्ठी एक ऐतिहासिक संस्था थी। शंकर ने उसके लक्षण बतलाते हुए लिखा है कि जहां विद्या, धन, शील, बुद्धि और आयु के समान शील लोग अनुरूप बातचीत के द्वारा, एक स्थान पर बैठकर विचार करें तो उसे गोष्ठी कहते हैं।^{२२} रामायण तथा महाभारत में गोष्ठी का उल्लेख हास्य विनोद के सार्वजनिक स्थल के रूप में मिलता है।^{२३} क्षीर स्वामी तथा रमेश चन्द्र मजूमदार का विचार है कि गोष्ठी प्राचीन समाज का ही दूसरा रूप था।^{२४} वात्स्यायन ने भी विभिन्न प्रकार की गोष्ठियों का उल्लेख किया है।^{२५}

गोष्ठी के स्वरूप के सम्बन्ध में बिद्वानों में मतभेद है। जी. एन. शर्मा ने इन्हें श्रेणी की तरह की प्रादेशिक स्तर पर सरकारी कार्यों में सहयोग देने वाली संस्था माना है।^{२६} के. सी. जैन के विचार भी इसी तरह के हैं। उनकी मान्यता है कि साधारणतया स्थानीय संस्थाएँ शासक और उसके अधिकारियों की रक्षा करती थी। ये संस्थाएँ

गोष्ठी, पंचायत और पंचकुल के नाम से प्रसिद्ध थीं।^{१५} बैजनाथ पुरी ने लिखा है कि गोष्ठी उत्तर सभा की तरह संस्था थी। जो दान में दी गई सम्पत्ति से प्राप्त धन की उचित व्यवस्था तथा मन्दिर की देख-भाल करती थी। कई बार वह सरकारी स्तर पर सौंपे गये कार्यों को भी पूरा करती थी।^{१६} हमारा विचार है कि गोष्ठी समान विचारों वाले, सामाजिक एवं धार्मिक कार्य करने हेतु इच्छा रखने वाले मनुष्यों की संस्था थी। कई बार इसमें राज परिवार के सदस्यों को भी सम्मिलित कर लिया जाता था। प्रायः गावों में निवास करने वाले वयोवृद्ध पुरुष जो नैतिकता, ज्ञान और सम्पत्ति की योग्यता रखते थे, उन्हें जन समर्थन से अथवा मन्दिर के आचार्य की इच्छा से गोष्ठी का सदस्य बनाया जाता था। मन्दिर के निर्माण कर्ता भी प्रायः अपनी इच्छानुसार गोष्ठी का निर्माण कर देते थे। गोष्ठी के सदस्य मिलकर मन्दिर का जीर्णोद्धार/उत्सव सम्पन्न करवाते, धार्मिक प्रवचन एवं यात्राएं आयोजन का कार्य करते थे। गोष्ठी मन्दिर हेतु प्राप्त धन के संरक्षण एवं उपभोग की भी उचित व्यवस्था करती थी।^{१७} हस्तिकुंडी के अभिलेखों से स्पष्ट है कि वि. सं. १०५३ विक्रमी को माघ सदी १३ रविवार पुष्य नक्षत्र में जब ऋषभ देव की प्रतिष्ठा की गई उस समय गोष्ठी के सदस्यों ने भी श्रावकों के साथ अपने अपने अग्रेषकर्मों का क्षय करने के लिये और अपनी संतान को संसार सागर से पार उतारने के लिये न्याय से उपाजित धन से यह प्रतिष्ठा करवाई।^{१८}

हस्तिकुंडी की गोष्ठी भी राजस्थान के अन्य मन्दिरों की गोष्ठियों की तरह इस जैन नीर्थ की व्यवस्था की देख-भाल कर उसके आर्थिक क्रिया कालपों पर अपना पूर्ण नियन्त्रण रखती थी।

हस्तिकुंडी के वि. सं. १३३५ के अभिलेख में पंचकुल नामक संस्था का उल्लेख भी विचारणीय है। पंचकुल आधुनिक पंचायत का ही प्रारम्भिक स्वरूप था।^{१९} हस्तिकुंडी के विवेचित शिलालेख में पंचकुल के सदस्यों के नाम दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं:— मंठपिकाया भां पाटहड भावा (?) पवरा, मंह सजन उ मह धीणा उधपसिह उ ब देवसिह प्रभृति पुंचकुलेन।^{२०} इसका अर्थ डा० सोहन लाल पटनी ने इस प्रकार किया है ३० संवत् १३३५ वि. के श्रावण वद १ सोमवार के दिन सेवाडी मंडप के भाया, हटा, भावा पयरा, वयोवृद्ध सज्जन जी, धीणाजी ठा० धनसिह जी, ठा० देव सिहआदि पंचों (पंचकुल के सदस्यों) ने राता-महावीरजी के मन्दिर में छवजाचढाई एवं २४ द्रम प्रतिवर्ष ये लोग देंगे व परम्परा का पालन करेंगे।^{२१} एक अन्य शिलालेख के अनुसार संवत् १३४५ विक्रमी भाद्रपद वदी ९ शुक्रवार के दिन श्री नाडोल मण्डल के महाराज सावंत सिंह के राज्य में यहाँ नियुक्त श्री करणा, ललना आदि पंचों (पंचकुल सदस्य) तथा सज्जन हेमा ने हथुण्डी गांव में महावीर भगवान की सेवाय प्रतिवर्ष २४ द्रम का दान दिया।^{२२} अभिलेखों में पंचकुल के लिये “तन्नियुक्त” तथा ‘तदधिष्ठित’ अर्थात् शासक की देखरेख तथा संचालन में, दोनों शब्द मिलते हैं। पांच सदस्य जिन्हें लोक समर्थन प्राप्त होता था, के अतिरिक्त शासक द्वारा नियुक्त मुख्य अमात्य श्री करणाधिकारी भी इसका सदस्य होता था।^{२३} अभिलेखों से ज्ञात होता है

कि पंचकुल के सदस्यों का न्यायपालिका के कार्यों मण्डपिकाओं तथा स्थानीय व्यवस्था पर भी प्रभाव होता था।^{१५} कर संग्रह का कार्य तो वस्तुतः मण्डपिकाओं द्वारा होता था लेकिन उनकी आय में से पंचकुल के सदस्य दान दे सकते थे। जिसकी पुष्टि वि० सं० १३५६ और वि० सं० १३३५ के हस्तिकुण्डी के अभिलेखों से होती है।^{१६} पंचकुल गोष्ठी राज्य में भूमिदान आदि देते समय साक्षी का कार्य भी करती थी। राजस्थान के विभिन्न मन्दिरों के अभिलेखों से संकेतित है कि कई बार दानदाता स्थानीय अधिकारियों और पंचकुल को सम्बोधित करके ही दान देते थे।^{१७}

अतः उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हस्तिकुण्डी का जैन तीर्थ प्राचीन काल में ही ख्याति प्राप्त कर चुका था। यहाँ लम्बे समय से ऋषभदेव तथा रातामहावीर जी की पूजा-अर्चना की जाती रही है। इस मन्दिर के निर्माण एवं जीर्णोद्धार में यहाँ के राज परिवार एवं जनता ने मुक्त हस्त से आर्थिक सहयोग दिया। मन्दिर की पूजा निमित्त धन की व्यवस्था हेतु राजा ने आज्ञा प्रसारित कर अनेक प्रकार के कर लगाये। जिसकी पुष्टि हस्तिकुण्डी के वि० सं० ९९६ के अभिलेख से होती है। मन्दिर की देखभाल हेतु गोष्ठी एवं पंचकुल जैसी स्वायत्त संस्थाओं का सहयोग अनवरत रूप से मिलता रहता था ताकि दैनिक पूजा में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित न हो।

संदर्भ

१. पटनी सोहनलाल, हस्तिकुण्डो का इतिहास, पृ० १, सोमानी आर० बी, जैन इन्स्टिट्यूट ऑफ राजस्थान, पृ. १०५-१०६
२. कील हार्न, जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल ६२, खण्ड प्रथम सं. ४ पृ. ३०९-३१४ मुनि जिन विजय, प्राचीन जैन लेख संग्रह, २ पृ. १७५-१८५, नाहर, पूरण चन्द, जैन लेख-संग्रह, खण्ड प्रथम, सं. ८९८ पृ. ६८, ११८-१२०, खण्ड प्रथम, पृ० २३३-२३८, सुखवीर सिंह, गहलोत, सोहन कृष्ण पुरोहित एवं नीलकमल शर्मा राजस्थान के प्रमुख अभिलेख पृ. १५५-१६५ पटनी, सोहन लाल, पूर्वो० पृ. ६१-१०६.
३. गहलोत, पुरोहित एवं शर्मा, पूर्वो० पृ. १६१
४. वही, पटनी, पूर्वो० ६३
५. गहलोत, पुरोहित एवं शर्मा, पूर्वो० १६२
६. जैन के. सी. जैनिज्म इन राजस्थान, पृ. २६
७. पटनी, पूर्वो० पृ. ७४
८. पटनी, पूर्वो० पृ. ७६
९. वही, पृ. ८१
१०. वही ।
११. वही । प्राचीन काल में कर्ष एक मुद्रा का नाम था । द्र. श्लोक ९. टि. वि. १ सं. ९९८, ९७३ का शिलालेख
१२. देखे श्लोक १० सम्भवतः चोल्लिका भी कोई सिक्का ही होता था । ऐसा विचार डा. पटनी का है । देखे उनका ग्रन्थ पृ. ८२
१३. शर्मा दशरथ, राजस्थान थ्रू द एजेज, पृ. ३३०
१४. पटनी, पूर्वो० पृ. ८२ आढक = ४ सेर
१५. कोड़ी का २० वां भाग विशेषक कहलाता था ।
भार=माप, पालिका=एक सिक्का
१६. श्लोक १४,
१७. राभा तत्पुत्र पीतेष्व गोष्ठ्या पुरजनेन च । गुरु देव धन रक्ष्यं नोपेक्ष्यं
हितमीप्सुभिः १/१५११ दत्ते दान फलं दानात्पलिते फलम् । भक्षिते पाप
गुरुदेव धने ऽधिकम् ॥१६॥
१८. पटनी पूर्वो० पृ. ७८ वि सं. १०५३ का शिलालेख पृ. ८९ वि. सं. १०४८
१९. पटनी शिलालेख वही पृ, ८६-८७, शिलालेख वि सं. १३३५'१३३६, १३४५
२०. पुरोहित सोहन कृष्ण राजस्थान के प्राचीन अभिलेखों में वर्णित गोष्ठियां :
उनका सामाजिक कार्य ७००-१२०० ई (शोध निबन्ध) परिषद पत्रिका वर्ष
२७ अंक १-४ अप्रैल १९८७-८८ पृ. १८८, जैन के. सी. जैनिज्म इन
राजस्थान पृ. २७ एवं एन्श्रेण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ.
२७२ सोमानी, आ. बी. पूर्वो०, परिशिष्ट पृ. ३४

२१. पटनी, पूर्वो. पृ. ८९
२२. अग्रताल, वा. श. हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ. १२-१३
२३. रामायण ११२/६९/५, महाभारत, शान्ति पर्व ६९-११
२४. समज्या परिषद गोष्ठी, अमर कोश २-७-१५ मजूमदार, र. च, प्राचीन भारत में संगठित जीवन पृ. १७१-१७३,
२५. वात्स्यायन, कामसूत्र अध्याय ४ पृ० ४७, चौखम्बा संस्करण
२६. शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान का इतिहास, पृ० ६४१-६४२
२७. जैन, के. सी. पूर्वो. पृ. ६८३
२८. परिषद पत्रिका, पूर्वो. पृ. १९१
२९. वही, पृ. १९०
३०. पटनी पूर्वो. पृ. ७८, गहलोत, पुरोहित एवं शर्मा पूर्वो. पृ. १६०
३१. विश्वम्भरा, वर्ष १३ अंक ४ पृ. ४५
३२. नाहर, पूर्वो, खण्ड १, पृ० २३२ सोमानी राम वल्लभ, ऐतिहासिक निबन्ध संग्रह, पृ. ९०
३३. पटनी पूर्वो. पृ. ८६
३४. वही, पृ. ८७-८८
३५. विश्वम्भरा, पूर्वो. पृ. ४५
३६. शर्मा, दशरथ, पूर्वो. पृ. ३५३
३७. वरदा, वर्ष १४ अंक ४ पृ. ५ हस्तिकुण्डी का वि. सं. १३३५ का लेख, नाहर, जैन लेख संग्रह खण्ड १, पृ. २३२
३८. पांचकुल सम्बन्धी विवरण हेतु दृष्टव्य, शर्मा महावीर प्रसाद, का शोध निबन्ध, पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में स्वायत्त संस्थाएँ, अभिलेखों का एक अनुशीलन, विश्वम्भरा पूर्वो पृ. ४४-४५

—डॉ० सोहन कृष्ण पुरोहित
बाणनाथ मन्दिर के पीछे
सुखानन्द की बगीची के पास
नई चान्दपोल रोड़ जोधपुर
(राजस्थान)

गुरुदेव के काव्यों में रस-परिपाक

■ मुनि विमल कुमार

किसी संस्कृत कवि ने कहा है—

वक्तृत्वं च कवित्वं च, विद्वत्तायाः फलं विदुः ।

शब्दज्ञानादृते तन्न, द्वयमप्युपपद्यते ॥

वक्तृत्व और कवित्व इन दोनों को विद्वता का फल माना गया है। विद्वता का संबंध ज्ञान से है। अनेक विषयों का ज्ञान वक्ता की वक्तृत्व शक्ति को और कवि के कवित्व-बल को तेजस्वी बनाता है।

वक्तृत्व और कवित्व दोनों का आधार शब्दज्ञान है। शब्दज्ञान के बिना न वक्तृत्व में निखार आता है और न कवित्व में। भावों को व्यक्त करने का साधन शब्द ही है। जिस व्यक्ति का शब्द ज्ञान जितना समृद्ध होगा वह उतना ही अपने भावों को अच्छे ढंग से व्यक्त करने में समर्थ होगा।

आचार्यश्री तुलसी तेरापंथ धर्मसंघ के नवम आचार्य थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनका तेजस्वी व्यक्तित्व अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका था। वे एक अच्छे गायक, वक्ता, लेखक, कवि, चिंतक और साहित्यकार थे। उनका ज्ञान समृद्ध था। उनकी सृजनात्मक शक्ति भी बेजोड़ थी। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की। उनके द्वारा रचित ग्रंथों को हम भाषा की दृष्टि से तीन भागों में बांट सकते हैं—संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी। इन तीनों भाषाओं में रचित ग्रंथ भी गद्य और पद्य रूप दो भागों में विभक्त हैं। पद्यात्मक ग्रंथों में संस्कृत भाषा में शिक्षा षण्णवति, कर्तव्य षट्त्रिंशिका, पञ्चसूत्र, कालू भक्तामर स्तोत्र, संघ षट् त्रिंशिका, चतुर्विंशति जिनस्तवनम् आदि रचनाएं हैं। हिन्दी भाषा में पानी में मीन पियासी, भरत मुक्ति, श्रावक संबोध, आचार बोध, संस्कार बोध, व्यवहार बोध, नंदन निकुंज आदि रचनाएं हैं। राजस्थानी भाषा में कालूयशोविलास, माणक महिमा, डालम चरित्र, मगन चरित्र, मां वदना, चंदन की चूटकी भली, सेवाभावी, सोमरस आदि रचनाएं हैं। पद्यात्मक ग्रंथों में आपकी काव्यात्मक प्रतिभा विशेष रूप से उभर कर आई है। काव्य में भावों के साथ-साथ अलंकार और रस का भी अपना विशेष महत्व है। कवि जिन भावों को प्रकट करना चाहता है यदि वह उन भावों के साथ एकात्मकता स्थापित कर लेता है तो उसकी कृति में सजीवता आ जाती है। पाठक भी उन्हीं भावों में बह जाता है। रस भावों के साथ एकात्मकता स्थापित करता है। इस दृष्टि से रस का विशेष महत्व है।

तुलसी प्रज्ञा, लाडलू : खंड २३, अंक ४

आचार्य हेमचन्द्र वे 'अभिधान चिंतामणि' में नौ रसों का वर्णन किया है। वे हैं—शृंगार रस, हास्य रस, कठुणा रस, रौद्र रस, वीर रस, भयानक रस, वीभत्स रस, अद्भुत रस और शान्त रस। कुछेक ग्रन्थों में दस रसों का भी वर्णन मिलता है। उनके अनुसार हेमचन्द्राचार्य द्वारा प्रतिपादित नौ रसों के अतिरिक्त दसवां रस है "वात्सल्य"।

हमारे प्राचीन कवियों ने अपने काव्यों में इन रसों का भरपूर प्रयोग किया है। आचार्यश्री तुलसी एक संत, साधक हैं। उनके काव्यों में शृंगार रस और हास्य रस की तो सर्वथा उपेक्षा ही हुई है जो कि एक संत और साधक के लिए आवश्यक है। अन्य रसों का उन्होंने अपने काव्यों में यथा स्थान उपयोग किया है।

वीर रस और शांत रस काव्य के महत्वपूर्ण अंग हैं। वीररस की रचनाएं जहां कायरता को दूर भगा पाठक के रग-रग में वीरता का संचार करती हैं वहां शांतरस पूर्ण रचनाएं उफनते हुए तूफान को शांत करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। आचार्यश्री के काव्य 'मगन चरित्र' में वीर रस का एक उदाहरण देखिए—बात उस समय की है जब आचार्यश्री कालूगणी का वि. सं. १९७७ का चातुर्मास हरियाणा प्रान्त के अंतर्गत भिवानी ग्राम में था। चातुर्मास में कुछ भाई-बहनों की दीक्षा होने वाली थी। विरोधियों ने उस दीक्षा को रोकने के लिए विरोधी वातावरण बनाया। वे छायाबाजी मिटिंग आदि करने लगे। यह देखकर भिवानी के श्रावकगण घबरा गये। वे मुनि मगनलालजी स्वामी के पास आये और बोले—

म्हाराजी ! दीक्षा देद्यो अगर ठिकाण,
तो लोग विरोधी पड़्यया तब लचकाण।

तब मुनि मगनलालजी ने उन घबराये हुए श्रावकों से जो बात कही वह वास्तव में वीर रस की द्योतक है। मुनि मगनलालजी ने जो कुछ कहा—उसे आचार्यश्री ने अपने शब्दों में इस प्रकार गूथा है—

मुनि मगन—द्वारकादास ! बात सुण लेना,
इससे पड़ जाएगा लेने से देना ॥१॥

हम तो दीक्षा तुम कहो वहां दे देंगे,
पावस उतरे भीवाणी छोड़ चलेंगे।
तुमको तो आखिर रहना यहीं पड़ेगा,
कायरता का अभियोग न कभी भूड़ेगा ॥२॥

ऊमर भर ऊंची नजर न देख सकोगे,
बिलकुल सच्चे, वन भूठे मुंह तकोगे।
क्यों सिर पर भय का भूत सवार हुआ है,
क्या धार्मिकता का बल बेकार हुआ है ॥३॥

हरियाणे की श्रद्धा हम सुनते आए,
 क्या शेर गीदड़ों के भय से घबराये ।
 बोलो ! जैसी इच्छा गुरुवर पे जाऊं ।
 कर विनय हुकुम ले वापिस तुम्हें सुनाऊं ।

(मगन चरित्र पृष्ठ ५८)

मुनि मगनलालजी के उक्त वचन सुनकर श्रावकों के घबराये दिलों में जोश जागृत हुआ ।

लाला पेसीराम लाला द्वारकादास का मुख्य मुनीम था । उसकी मां दृढ़ श्रद्धालु और धर्मसंघ के लिए सब कुछ करने के लिए तत्पर रहती थी । वह भी अपने पुत्र में वीरता का भाव भरती हुई कहती है—

पेसी की मां बोली बेटा ! सुण लीजे ।
 जो मेरा जाम्घोड़ा मत पीठ तकीजे ।
 दीक्षा बाजते ढोल बजार दिराजे ।
 वरना तू जिन्दा मनै न मुंह बताजे ॥

(मगन चरित्र पृष्ठ ५९)

इसी प्रकार शांत रस का एक उदाहरण देखिए—बात वि. सं. १९७९ की है । आचार्य कालूगणी का चातुर्मासिक प्रवास राजस्थान प्रान्त के अन्तर्गत बीकानेर शहर में था । उस समय विरोधी वातावरण का अतिरेक था । विरोधी लोग साधु-साध्वियों को गालियां देते थे । एक तांघे वाले ने विरोधियों से प्रेरित होकर मुनि मगनलालजी की पीठ पर चाबुक की मार दी । आचार्य कालूगणी को भी मारने का षड्यंत्र बनाया गया था । उस समय विरोधी हरकतों को देखकर श्रद्धालु तर्षणों का खून उबल गया । वे कुछ कर दिखाना चाहते थे । सुमेरमलजी बोधरा उनके नेता थे । सिर्फ उनके इंगित मात्र की देरी थी । मुनि मगललालजी को यह बात मालूम पड़ी । उन्होंने सुमेरमलजी को याद किया । वे आये । मुनि मगनलालजी ने उन्हें एक सामायिक का प्रत्याख्यान करा दिया जिससे वे बाहर नहीं जा सके । इससे होने वाला घमासान टल गया । इस अवसर पर मुनि मगनलालजी ने सुमेरमलजी से जो शब्द कहे वे प्रज्वलित आग को शांत करने वाले थे । आचार्यश्री ने उन भावों को अपने शब्दों में इस प्रकार गूँथा है—

आपां रो धर्म संघ है शान्ति गवेषक,
 यद्यपि सीमाधिक हुई हरकतां बेशक
 खामोशी का फल समझो अंत मधुर है,
 अपणै गुरूवां स्यूं मिल्यो सदा ओ गुर है ।
 औरां री सौ अरू इक गल्ती आपांरी,
 बा ही देखेला सभ्य दृष्टि दुनियां री ॥....१

आपां तो गुरुदेवां री दृष्टि अराधां,
विष पी पीयूष उकार साधना साधां ।
बच्चां युवकां नै दृढता स्यूं समभावां ।
मत भूल चक ओ दुर्लभ बगत गमावो ॥५५२
शिक्षा जलस्यूं जन-दूध उफाण मिटघो है,
सदियां री सारो सहज्यां फंद कटघो है ।
अत्यधिक सुखद परिणाम सामनै आयो,
तेरापंथ री जश-भंडो जग फहरायो ॥

(मगन चरित्र पृष्ठ ६०, ६१)

रौद्र रस का एक उदाहरण देखिए—गज सुकुमाल मुनि दीक्षा ग्रहण कर भगवान अरिष्टनेमि से आज्ञा लेकर उसी दिन आत्म कल्याण की भावना से श्रमदान में जाकर भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा को स्वीकार करते हैं। श्रमदान का दृश्य कैसा होता है। आचार्यश्री के शब्दों में उसका चित्रण [चंदन की चूटकी भली में] इस प्रकार है—

जंगल की भंक्रत भांय-भांय, शव जलै चिता में सांय सांय ।
अधजलिया मृतक है पड्या, गीध चांचां स्यूं छोलै छाल ॥५५३
है पड़ी हड्डियां ढेर ढेर, फिरता फेरू कर फेर-फेर ।
फंफेर कलेवर कहीं शुनी-सुत खावै खोद निकाल ॥५५४
नर-मुंडमाल धर प्रेम फिरै, मिल अट्टहास निरहेत करै ।
कायर नर को कमजोर कालजो होवै देख दुडाल ॥५५५
डायणियां घूमै डगर-डगर, मानव शव ढूँढे टगर-टगर ।
भर-भर खप्पर जोगणियां, बावन री रहै खुशहाल ॥५५६

विस्मय रस का एक उदाहरण देखिये—

बाहुबली गृह-त्याग कर जंगल में एकाकी ध्यानस्थ खड़े हो गये। एक वर्ष बीत गया पर उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। साध्वी ब्राह्मी और सुंदरी उन्हें प्रतिबोध देने के लिए आती हैं और कहती हैं—वीरा ! छोड़ो गज-असवारी ।

इन शब्दों को सुनकर बाहुबली को अत्यधिक विस्मय हुआ। वे क्या सोचते हैं। आचार्यश्री के शब्दों में—

मत, मतंग, तुरंगमा रे छोड़ अकिचनता थारी ।
पियो न पाणी, कियो न भोजन, सूखी काया री क्यारी ।
फिर भी म्हारी गज असवारी,
भारी मन स्यूं भावुकपण स्यूं विस्मित बाहुबल भारी ।
मैं पार करी स्थितियां सारी ॥

(चंदन की चूटकी भली, पृष्ठ २८)

भयानक रस का उदाहरण देखिए—राजस्थान में गर्मी की ऋतु कितनी भयंकर होती है। जब लूण चलती है तब तो उसकी भयंकरता और बढ़ जाती है। आचार्यश्री ने ऋतु की भयंकरता का चित्रण कालूयशोविलास में इस प्रकार किया है—

ज्येष्ठ महीनो ऋतु गरमी तो, मध्यम सीनो हठ-भीनो ।
लू री भालां अति विकरालां, वहिन ज्वाला ज्यूं चोफालां ।
भू ज्यूं भट्टी तरणी तापै, रेणू कट्टी तनु संतापै ।
अजिन रू अट्टी मट्टी व्यापै, अति दुरघट्टी घट्टी मापै ।
स्वेद निभरणां रूं रूं भारै, चीवर चरणां लुह-लुह हारै ।
अंगे उघेड़ पुणसी-फोड़ा, भू पे उघेड़ ज्यूं भूपोड़ा ॥
राजस्थान की लू कितनी भयंकर होती है । आचार्यश्री के शब्दों में—
लू लागी नागी घणी, सागी आगी रूप ।
भयानक रस का एक और उदाहरण देखिए—

जयाचार्य जब लाला लिच्छमणदासजी से बालक माणक को दीक्षा की अनुमति देने के लिए कहते हैं तब लाला लिमच्छमणदासजी बालक माणक की शारीरिक स्थिति और साधु जीवन की कठिनाइयों का वर्णन करते हैं । आचार्यश्री ने उसका चित्रण “माणक महिमा” में इस प्रकार किया है—

ओह ! पय अलवाणो, पैदल परदेशां जाणो ।

बो भारी भार उठाणो ।

दृढ़ नियम निभाणो, काम करारो जी ॥....१

खंधा घुल ज्यावै, कहि लहु-लुहाण हो ज्याव,

विश्राम कहो कुण पावै,

कर ठावै भोली, सन्त सितारोजी ॥

जेठां रो तड़को, पोहां माहां सी भड़को,

नहि करणो तड़को-भड़को,

कोमल ओ लड़को, कुल उजियारो जी ॥

वीभत्स रस का एक उदाहरण देखिए—

जब मुनि भावदेव गृहस्थ जीवन में जीने की इच्छा से साधु वेश में ही अपने गांव के बाहर आकर कहीं ठहर जाते हैं और गांव की औरतों के साथ आई हुई नागला उन्हें देखती है तो वह उन्हें पहचान गई कि ये मेरे पतिदेव हैं । उसने सोचा—ये यहां अकेले क्यों आये हैं ? क्या ये संयम से च्युत हो रहे हैं । उसके मन में अनेक प्रकार की आशंकाएं उत्पन्न हुईं । वह मुनि के पास गई । उन्हें बंदन किया । मुनि ने अपनी मां रेवती के बारे में उससे पूछताछ की । उसने कहा—उसे मरे कई वर्ष हो गये । तब मुनि ने नागला के बारे में पूछताछ की । नागला ने कहा—वह आपके क्या लगती है । मुनि ने कहा—वह मेरी पत्नी है । मैंने उसे छोड़ संयम स्वीकार किया था । तब नागला ने जो कहा वह आचार्यश्री के शब्दों में इस प्रकार है—

साध घणां बाजै घरबारी,

[पण] सुणी न निर्ग्रन्था रै नारी ।

उज्ज्वल मत आपां रो,

उत्तर दै सती नागला निहारो ॥....१

आ कोई काणां सुण लेसी,
तो ओ बाना रहण न देसी ।
देसी सब दुत्कारो ॥ ... २
कयूं पाखंड रच्यो मुनिद्वत रो,
संयम बणगयो उलटो खतरो ।
हा ! ही ! ही ! धिक्कारो ॥ ... ३

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्यश्री ने अपनी रचनाओं में यथास्थान रसों का उपयोग किया है। आचार्यश्री एक सृजनशील व्यक्ति थे। उन्होंने काव्यों का ही सर्जन नहीं किया अपितु अनेक व्यक्तियों का जीवन-निर्माण भी किया है। उस सृजन-शील व्यक्तित्व को कोटिशः अभिवंदना। □

—मुनि विमलकुमार
भिक्षु विहार
जैन विश्व भारती, लाडनू

आचार्य महाप्रज्ञ का सौन्दर्य दर्शन

हरिशंकर पाण्डेय

देववाणी-संस्कृत भाषा में निबद्ध आचार्यश्री महाप्रज्ञ की अनेक रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में सौन्दर्य का उदात्त रूप प्रतिफलित हुआ है। रत्नपाल चरित की नायिका जब संसारिक सुख में आसक्त थी, राजा रत्नपाल के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने के लिए लालायित थी, तब तक सृष्टि का हर पदार्थ उसे कष्ट दे रहा था लेकिन एक भोंका आया, आनन्द का, परमसौन्दर्य का रसपान करा गया, बस फिर क्या था सब कुछ भव्य एवं उदात्त हो गया। जो कल तक प्रतिकूल थे अब सहचर बन गए—आत्मवत्सर्वभूतेषु की दृष्टि प्राप्त होते ही। केवल शेष रहा—आनन्द का अथाह सागर, सौन्दर्य की अनाहत ऊर्मियाँ, रूप-नगर का अनाविल लावण्य—कल तक जो व्यथित करते थे उन सबमें आज रत्नवती शान्तरस का पान करने लगी।¹

१. श्रद्धा और ज्ञान का समन्वय

सौन्दर्य बोध विषय-परित्याग से प्रारंभ होता है, यह ठीक है, लेकिन जैसे ही यह यात्रा आगे बढ़ती है, उसे श्रद्धा और ज्ञान दोनों का साहाय्य आवश्यक हो जाता है। संसार में श्रद्धा महार्थ्यं वस्तु है। उसको पाकर साधारण जीव भी महान् बन जाता है। श्रद्धा जहाँ भी रहती है, सुन्दरता का, रमणीयता का वातावरण बन जाता है, सारी कर्कशताएँ एवं विरसताएँ समाप्त हो जाती हैं, केवल आनन्द का स्वाद ही शेष रहता है—

सत्संपर्का दधति न पदं कर्कशाः यत्र तर्का
सर्वं द्वैधं व्रजति विलयं नाम विश्वास भूमी।
सर्वस्वादा प्रकृतिसुलभा दुर्लभाश्चानुभूताः
श्रद्धा स्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म ॥²

संबोधिकार आचार्य महाप्रज्ञ ने स्पष्ट रूप से श्रद्धा और ज्ञान की अनिवार्यता की घोषणा की है—

आगमश्चोपपत्तिश्च सम्पूर्णं दृष्टिकारणम् ।
अतीन्द्रियाणामर्थानां सद्भाव प्रतिपत्तये ॥

(अतीन्द्रिय पदार्थों का अस्तित्व जानने के लिए आगम-श्रद्धा और उपपत्ति (तर्क, ज्ञान) दोनों आवश्यक हैं। ये मिलकर ही दृष्टि को पूर्ण बनाते हैं।

२ मंगल और तप का समन्वय

गुरुदेव रविन्द्रनाथ ठाकुर ने मंगल और तप के समन्वय को सौन्दर्य का मूल आधार माना है। सौन्दर्य परम मंगल स्वरूप है क्योंकि अनन्त के साथ सम्बन्ध की

तुलसी प्रज्ञा, लाडनूँ : खण्ड २३ अंक ४

स्थापना हो जाती है। तप मंगलकारक है। तप के बिना रूप फलित नहीं होता है। विश्व सुन्दरी पार्वती को जब तक अपने रूप पर, शारीरिक लावण्य पर, पिता की भौतिक सम्पदा पर गर्व था, उसे कहां शिवत्व की प्राप्ति हुई? जगज्जेता कामदेव भी सहायता करने के लिए उपस्थित हुआ, लेकिन वह सहायता क्या करता, देखते ही देखते भस्म का ढेर बन गया—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद्द्विगरः स्त्रे मरुतां चरन्ति ।
तावत् स वह्नि भवनेत्रजन्मा
भस्मावशेषं मदनं चकार ॥

यह सब घटना रूपवती-युवती पार्वती के सामने ही घटी। सारा मोह भंग हो गया, अहंकार छिन्न-भिन्न हो गया। वह रूप रूप क्या जो शिव के सान्निध्य रूप फल को प्राप्त नहीं करा सके—

निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता ॥”

बस क्या था, उस कोमलांगी कुमारी कन्या ने अपने रूप को सुन्दर करने के लिए ठान ली, कल तक जो भोगासक्त थी आज कठोर तपस्साधना के लिए तैयार हो गई क्योंकि तपस्या के बिना परम का साक्षात्कार असंभव है—

इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥”

अर्थात् पार्वती ने एकाग्रचित्त से तपश्चर्या करके अपनी सुन्दरता को सफल करने की इच्छा की। तपस्या के बिना पति का वैसा उत्कृष्ट प्रेम और शिव जैसा पति यह दोनों कैसे मिल सकता है।

सम्बोधि का मेघकुमार संसार की ओर आकर्षित होता है। एक रात के कष्ट ने उसके जीवन को हिला दिया। महावीर प्रतिबोधित करते हैं, तपश्चरण में पुन-नियोजित करते हैं क्योंकि इसके बिना मनुष्यत्व की सार्थकता सिद्ध ही नहीं हो सकती। मंगल की प्राप्ति कौन कहे उसका दर्शन भी दुर्लभ है। इसलिए स्पष्ट शब्दों में श्रेयस् जीवन के लिए तपश्चरण की आवश्यकता पर आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने बल दिया है।

३. सहृदयता

संसार अपने आप में न सुन्दर होता है न कुरूप। अपने हृदय के बनावट के अनुसार ही व्यक्ति संसार को ग्रहण करता है। सहृदय पवित्रात्मा संसार के प्रत्येक वस्तु को पवित्र और सुन्दर समझता है। सृष्टि के हर पदार्थ को सृष्टिकर्ता के महा-प्रसाद स्वरूप स्वीकार कर कुरूपता में सुरूपता का साक्षात्कार करता है। एक सर्वांग सुन्दरी नव-यौवन सम्पन्ना युवति को देखकर चित्तभ्रष्ट युवक, हृदयहीन कामुक

युवक उसके शरीर सम्बन्ध की ओर दौड़ता है, क्योंकि वह उतना ही ग्रहण कर सकता है लेकिन महाशक्ति का साधक कोई शंकर उसी युवति में आद्याशक्ति के रूप का साक्षात्कार कर वह आत्मा का संगीत गाने लगता है, हाथ जोड़कर उस माता के चरणों में शब्द-पुष्प समर्पित कर अपनी ह्रस्वता का निवेदन करने लगता है—

मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि ।^१

जो व्यक्ति जितना ही सहृदय होगा उतना ही अधिक सृष्टि की सुन्दरता का आस्वादन कर पाएगा। महाकवि कालिदास की कला इस विद्या में अग्रणी है। राजप्रसाद के भग्नावशेष में भी सुन्दर रूपवती युवति का दर्शन कालिदास जैसे सिद्ध-सारस्वत से ही संभव है। अयोध्या की नगरदेवी कुश से अयोध्या की दुर्दशा का वर्णन करते हुए कहती है—

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनाना-^२

मुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।

स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गा-

न्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥

अर्थात् राजप्रसाद के खंभों में स्त्रियों की मूर्तियां बनी हुई थीं आजकल उन मूर्तियों का रंग उड़ गया है। उन खंभों को चंदन का वृक्ष समझकर जो सांप उनसे लिपटे हैं उनकी केंचुलें छूटकर मूर्तियों से सट गयी हैं और वे ऐसी लगती हैं, मानो उन स्त्रियों ने स्तन ढकने के लिए कपड़ा डाल लिया हो, सांप की केंचुल से उत्पन्न चित्र रमणी का आंचल हो रही है, निर्मोक स्तनोत्तरीय हो रहा है। बाहुरे सहृदयता। सर्प की सूखी भयावनी केंचुल कला में भीना अंचल बन जाती है, नीरस निर्मोक सरस स्तनोत्तरीय हो जाता है। जीवन के सुख-दुःख कला में चित्र सुन्दर हो जाते हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ के संस्कृत काव्यग्रंथों में अनेकशः ऐसे प्रसंग हैं जहां पर महाप्रज्ञ के हृदय की विशालता, उनकी सहृदयता का दर्शन होता है। वृक्ष—जो संसार में जड़ के नाम से जाने जाते हैं लेकिन महाप्रज्ञ की कला का स्पर्श पाकर न केवल जीवन्त हो उठे बल्कि महापुरुषत्व की अन्तिम कसौटी—क्षमाशीलता के मूर्ति-मन्त विग्रह भी बन गए। रत्नपालचरित में वर्णित राजारत्नपाल एवं वृक्ष संवाद में यह घटना द्रष्टव्य है। वृक्ष अपने राज्यपति से कहते हैं—

धिन्दति भिन्दन्ति जनास्तथापि

पूत्कुर्महे नो तव सन्निधाने ।

क्षमातनूजा इति संप्रधायं

क्षमां वहामो न रुषं सृजामो ॥^३

अर्थात् हे राजन् ! लोक हमारा छेदन भेदन करते हैं, फिर भी हम तुम्हारे पास पुकार नहीं करते। हम क्षमा (पृथ्वी) के पुत्र हैं, इसलिए क्षमा धारण करते हैं, कभी किसी पर रोष नहीं करते।

रात्रि अपनी कालिमा, भयंकरता आदि के लिए प्रसिद्ध है। भयंकर अंधकार

युक्त रात्रि में ही संसार के सारे गलत कार्य सम्पादित किए जाते हैं लेकिन महाप्रज्ञ की कमनीया कला-तूलिका का स्पर्श पाकर वह संसार में श्रेष्ठ परोपकारिणी के रूप में उपस्थित होती है। रात्रि के अधोविन्यस्त शब्द कितने मार्मिक हैं और अल्पज्ञान के अहंकार में फंसकर दूसरों पर दोषारोपण करने वाले लोगों के लिए कितना सुन्दर उपदेश देती हैं। रात्री राजा रत्नपाल से कहती है—

अहमवैमि न चात्र ममादरः
परमपेक्ष्य परोपकृति सदा ।
नियतकाल मुपैमि करोम्यपि
महितलं सकलं तमसावृतम् ॥

+

+

+

परमहो ! मनुजा अविवेकिनो
नहि भवन्ति रहस्यविदः क्वचित् ।
अपचिकीर्षव एव तमो मम
गृहमणेनिचयान्मनसो न च ॥'

अर्थात् हे रात्रि ! क्या तुझे ज्ञात नहीं है कि तू इस जगत् को अंधकार से व्याप्त कर देती है। अंधेरे से मनुष्य भयभीत होते हैं और उससे कायरता बढ़ती है।

किन्तु मनुष्य कितने अविवेकी होते हैं? वे रहस्य को नहीं जानते। वे मेरे अंधकार को दीप जलाकर दूर करना चाहते हैं, किन्तु अपने मन के अन्धकार को मिटाना नहीं चाहते हैं।

४. व्यक्तिगत सुन्दरता

यह सत्य है कि विषय का सुन्दर होना आवश्यक है लेकिन इससे कहीं अधिक आवश्यक है—व्यक्तिगत सुन्दरता। सुप्रसिद्ध विचारक क्रोचे तो केवल द्रष्टा की चित्तदशा में ही सुन्दरता को स्वीकार करता है। संसार की जितनी भी वस्तुएं हैं, उनका सुन्दर होना या न होना प्रमाता की सुन्दरता पर निर्भर है। द्रष्टा जितना सुन्दर होगा, पवित्र होगा उतना ही अधिक सृष्टि को पवित्र देखेगा, सुन्दर देखेगा। संसार में अनेक अच्छे खाद्य-पदार्थ मिल सकते हैं, विद्यमान है लेकिन स्मर विष्टा को ही ग्रहण करता है। मन से प्रसन्न व्यक्ति को ही कमल या चांद सुन्दर लगता है। भूख से पीड़ित, उदास मन वाला व्यक्ति चांद या कमल में सुन्दरता क्या देखेगा। पुत्रशोक से पीड़ित मनुष्य पर्वतमालाओं को, सूर्योदय के समय प्राची क्षितिज को देखकर क्या प्रसन्न होगा? द्रष्टा अपनी आकृति, स्वभावादि के अनुरूप ही जागतिकता का निर्धारण करता है। सुप्रसिद्ध सूफी प्रेमकथानक लैला-मजनूं में लैला शरीर की दृष्टि से काली थी, कुरूप थी लेकिन मजनूं की दृष्टि में वह विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। शंकर-महादेव कितने कुरूप? बाघम्बर धारण किए हुए, सर्प लपेटे हुए, न गोत्र का पता न वंश का ठिकाना। लेकिन पार्वती की दृष्टि में शंकर सर्वोच्च सुन्दर और अप्रतिम लावण्य से युक्त एवं अनुपमेय थे। कुमार संभव का यह प्रसंग कितना मार्मिक

है । ब्रह्मचारी कहता है—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्य जन्मता
दिग्म्बरस्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद् बालमृगाक्षिः मृग्यते
तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥^{१०}

अर्थात् हे पार्वती ! यह शिव विकृत लोचन है, जन्म का भी कोई ठिकाना नहीं है । यह दिग्म्बर है, इसी से इसकी सम्पत्ति का पता चलता है (अर्थात् वह दरिद्र है) । रूप अथवा गुण जो कि वर के विषय में वधू के सम्बन्धी लोग खोजते हैं उनमें से कोई भी इस शंकर में है ? कितना विकृत रूप है शंकर का । लेकिन पार्वती की दृष्टि में शिव त्रैलोक्यनाथ है, विश्वभावन है, सबके स्वामी है । पार्वती कहती हैं—

अकिंचनः सन् प्रभवः स संपदां
त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः ।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते
न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ॥
विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा
गजाजि नालम्बि दुकूलधारि वा ।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं
न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥

(कुमार संभव ५.७७-७८)

अर्थात् शिव दरिद्र होने पर महान् ऐश्वर्य के उत्पादक हैं । श्मशानवासी होते हुए भी त्रैलोक्यनाथ हैं । भयानक आकृति होने पर भी शान्तस्वरूप हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं । शंकर के वास्तविक स्वरूप को जानने वाला इस त्रैलोक्य में कोई नहीं है । त्रैलोक्यात्मक अष्टमूर्ति शिव का शरीर सर्प से वेष्टित है, या अलंकारों से विभूषित है, उनका परिधान गजचर्म है या दुकूल है, वह ब्रह्मशिरः कपालधारी है, या चन्द्रशेखर है, यह कोई जान नहीं सकता है ।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ बाहर और भीतर दोनों तरफ से सुन्दर है । इनके काव्य में प्रकृति का हर पदार्थ सुन्दर दिखाई पड़ता है । जड़-चेतन सभी प्राणी जगत् के लिए उपयोगी हैं, उनका अपना महत्त्व है । कवि ने रत्नपाल चरित में रत्नवती के माध्यम से इस तथ्य का उद्घाटन किया है । कल तक रत्नवती को प्रकृति का कण-कण दुःख देता था लेकिन आज हृदयता की सुन्दरता प्राप्त होते ही सारा बाह्य संसार मनोरम बन गया । हृदय की शांति के बाद बाह्य जगत् में शांति का सागर लहराने लगा ।

प्रेम्णाकुला वियति वर्त्मनि पांशुलेपि
कूलंकषा जलकणेपि करालि कालौ
शाखासु पल्लवचये दलसंचयेपि
पुष्पोत्करे च कलिकानि करे फलेऽपि ॥

वृन्तरसे कलरवे नभसंगमानां,
 सत्कूजिते परभृतामपि मर्मरेऽपि,
 गुञ्जारवे मधुकृतां सलिल प्रपाते,
 वृत्रोच्चये मरुति वा स्तनयित्नु राशौ ॥
 प्राकल्पत प्रतिपलं मणिपालमेव
 प्रालोकत प्रतिपदं समदृष्टि बिन्दुः ।
 शुश्राव तदध्वनिमलं खलु साधुना हि,
 सर्वत्र शान्तरसमेक ॥^{११}

अर्थात् उस समय प्रेमाकुल रत्नवती आकाश में धूली मार्ग में नदी के जलकणों में, वृक्षों की पंक्ति में, शाखाओं में, पल्लवों में पत्तों में, फूलों और कलिकाओं के समूह में, कोयलों के कूजन में, पत्तों की ध्वनि में, भीरों के गुंजारव में, पानी के प्रपात में अंधकार में, हवा में, मेघों में प्रतिपल मणिपाल (नायक) की कल्पना करती थी, एकदृष्टि होकर पग-पग पर उसे देखती थी, उसकी ध्वनि सुनती थी, वह रत्नवती अब एक दृष्टि से सर्वत्र शान्त रस को देख रही है ।

५. सहजता

कवि या रसिक वर्ग (पाठक वर्ग) जितना ही सहज होगा उतना ही रसबोध या सौन्दर्य बोध की क्षमता अधिक होगी । संसार के जितने भी श्रेष्ठ साहित्यकार हुए उनके पास सहजता की महार्घ्य निधि अवश्य विद्यमान थी । भले ही इसकी प्राप्ति के लिए ध्यान-साधना, स्वाध्याय, भावना आदि की आवश्यकता है लेकिन सौन्दर्य बोध के लिए 'सहजता' आवश्यक है । कटु या विरस व्यक्ति लाख सुन्दर वस्तु क्यों न देखे—उसे वह अनुभूति कभी नहीं होगी जो एक सहज एवं ऋजु-चरित्र सम्पन्न व्यक्ति को होती है । करोड़ों जीवों को मरते हुए, मारे जाते हुए करोड़ों लोगों ने देखा होगा लेकिन महर्षि वाल्मीकि ही एक ऐसे व्यक्ति क्यों हुए कि मात्र ऋषीच की वियोग पर उनके हृदय से ऐसी करुणा की धारा बही कि रामायण जैसा महासागर तैयार हो गया, जिसमें मात्र वाल्मीकि नहीं बल्कि करोड़ों जीव स्नात कर धन्य हो गए, शताब्दियों तक धन्य होते रहेंगे । ऋषीच की वियोग से दुःखी महर्षि का हृदय हाहाकर कर उठा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।

यत् ऋषीच मिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥^{१२}

हे निषाद ! तुम सैकड़ों वर्षों तक समाज में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं कर पाएगा क्योंकि तूने काममोहित ऋषीच-युगल में से एक ऋषीच को मारा है ।

कालिदास इसलिए जगत्प्रसिद्ध हुए कि उनका चित्रण माघ और भारवि की तरह जटिल नहीं बल्कि अत्यन्त सहज है । सचेतन प्राणी शीघ्र ही कालिदास की रसगंगा में प्रवाहित होने लगता है । आश्रम कन्या शकुन्तला की निसर्ग रमणीयता किसे आकृष्ट नहीं कर लेती । मुग्ध बालक सबको प्रिय होता है । शकुन्तला का रूप सौन्दर्य था—यह तो कोई कविप्रवर कालिदास, रसिक दुष्यन्त या साहित्यशास्त्र का

महासाधक ही समझ सकता है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥^{१३}

विरही का सहज एवं स्वाभाविक चित्रण कालिदासीय प्रतिभा का प्रतिफलित रूप है। यक्ष प्रणयकुपिता प्रेमिका से मिल तो नहीं सकता क्योंकि शाप ग्रस्त है, इसलिए चित्र में मिलना चाहता है। उसके चित्र में उसके पैरों पर गिरकर क्षमा मांगना चाहता है। लेकिन हाय रे विधाता की क्रूरता, चित्र में भी प्रेमी-युगल का मिलन उसे सह्य नहीं हुआ—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायां
आत्मानं ते चरणपतितुं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरूपचित्तेर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नी कृतान्तः ॥^{१४}

हे प्रिय ! प्रेम में ठठी हुई तुमको गेरुरंग से चट्टान पर लिखकर जब मैं तुम्हारे चरणों में गिरकर क्षमा मांगना चाहता था, तभी आंसू उमड़कर मेरी दृष्टि समाप्त कर दिए। निष्ठुर दैव को चित्र में भी हम दोनों का मिलना नहीं सहा जाता है।

भवभूति वाक्विभूति-सम्पन्न हैं। मुग्धासीता का सहज रूप का चित्रण, भारतीय-दाम्पत्य का अनाविल निरूपण कितना सुन्दर है। राम के वक्षस्थल पर विश्वास पूर्वक सोई हुई सीता का रूप सौन्दर्य किसे भावित नहीं करता—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिनयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः ।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृण मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो ? यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥^{१५}

यह सीता मेरे घर की लक्ष्मी है, आंखों के लिए अमृत की शलाका है, इसका यह स्पर्श शरीर में गाढ़े-गाढ़े चन्दन रस का लेप है इसकी भुजलता कण्ठ में शीतल और स्निग्ध मोतियों के हार के समान है। अधिक क्या ? इसकी कौनसी वस्तु प्रिय नहीं है ? परन्तु इसका विरह सर्वथा असह्य है।

आचार्य महाप्रज्ञ की दृष्टि में सौन्दर्य-बोध के आवश्यक तत्त्व 'सहजता' को देखा जाए तो यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 'सहजता' इनका प्राण है। एक महान् योगी सौन्दर्य का महासाधक कितना सहज और सरस होता है, महाकवि महाप्रज्ञ को देखने से ही पता चलता है। जीवन सहज, जीवन पद्धति सहज और स्वयं विरचित शास्त्र सहज—यह सहजत्रयी की संभावना दुर्लभ है। लेकिन विवेच्य महाकवि में सहजत्रयी की प्राप्ति भी सहजता से देखी जा सकती है। इनका प्रत्येक ग्रंथ सहजतया के व्याख्यान में ही समर्पित है। अश्रुवीणा का प्रारंभ भी इसी तत्त्व के निरूपण से होता है। कवि कहता है कि हे श्रद्धे ! तू उसी का वरण करती है जो

दुग्धमुहे बच्चे की तरह या महाज्ञानी की तरह सहज हैं। मुग्ध हैं—
 श्रद्धे ! मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्धदिग्धास्यदन्तान्
 भद्रानज्ञान् वचसि निरतांस्नर्कवाणैरदिग्धान् ।
 विजांश्चापि व्यथितमनसस्तर्कं लब्धावसादा-
 तर्केणामा न खलु विदितग्नेऽनवस्थान हेतुः ॥^{१५}

संबोधिकार महाकवि महाप्रज्ञ सहजानन्द की व्याख्या में ही तल्लीन दिखाई पड़ता है। महाकवि का जीवन-लक्ष्य है—सहज आनन्द की प्राप्ति। सहजानन्द की व्याख्या करते हुए कवि कहता है—

नानुभूतिश्चिदानन्द इन्द्रियाणामगोचरः ।
 वित्तव्यो मनमा नापि स्वात्मदर्शन संभवः ॥^{१६}

चिदानन्द (सहजानन्द) का कभी अनुभव नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है, मन की तर्कणा से परे है। आत्मसाक्षात्कार से ही उसका प्रादुर्भाव होता है।

चन्दनबाला सहजतया प्रभूचरणों में अपना सर्वस्व समर्पित कर प्रभु की ही हो जाती है—

श्रद्धापूता समजनि सती चन्दना वन्दनीया
 भक्तिस्नातोऽप्यजनि भगवान् भावनापूर्यवन्धयः ॥^{१७}

महाप्रज्ञकृत 'स्तुतिचक्रम्'^{१८} के अनुशीलन से यह तथ्य—'सौन्दर्य बोध के लिए सहजता आवश्यक है' और अधिक स्पष्ट हो जाता है। आचार्य-स्तुति में अपने गुरुचरण की शरणगति के चित्रण क्रम में यह साफ परिलक्षित होता है कि एक शिष्य अपने गुरुचरणों में किस प्रकार सहजरूप से शरणगति ग्रहण कर धन्य हो जाता है—

वाणी पवित्रं विदधाति कर्णं
 स्तुती रसज्ञां नयनं च मूर्त्तिः
 परं तु सर्वोत्तमनुत्तमाङ्ग
 पुनाति पुण्यश्चरणस्तवासी ।।^{१९}

आंसू का सामर्थ्य जगत्प्रसिद्ध है। कितना बल होता है उसमें। बड़े-बड़े महारथी वीर भी आंसू की धारा में इस प्रकार बह जाते हैं कि उनका कहीं कोई पता भी नहीं चलता है। इनका सहज प्रवाह कितना वेगवान् है—देखें चन्दनबाला के यहां आकर—

चित्रा शक्तिः सकलविदिता हन्त युष्मासु भाति,
 रोद्धुं यान्नाक्षत पृतना नापि कुन्ताग्रमुग्रम् ।
 खातं गर्ता गहनगहनं पर्वतश्चापगाऽपि
 मग्नाः सधो ब्रह्मति विरलं तेऽपि युष्मत्प्रवाहे ॥^{२०}

आंसुओं ! जिन्हें सेना, भाले की पैनी नोक, खदान, गड्ढा घोर जंगल, पहाड़ और नदियां भी रोकने में असमर्थ हैं, वे तुम्हारे लघु-प्रवाह में सहसा डूब जाते हैं। तुम्हारे में कोई अद्भुत शक्ति है, इसे सब जानते हैं।

६. विराट् कल्पना

कल्पना जिसकी जितनी विराट् होगी उतना ही वह सौन्दर्य-बोध के शाश्वत-सागर का अवगाहन कर सकता है। कल्पना के आधार पर ही व्यक्ति अतिलौकिक और अतिरमणीय तत्त्वों का साक्षात्कार कर लेता है। संसार में जितने भी ज्ञान-विज्ञान के तत्त्व हैं, उनकी प्राप्ति में कहीं न कहीं कल्पना का अवश्य योगदान रहता है। कुरूप वस्तु में भी परमरमणीय का संधान, निर्जीव में भी सजीव का दर्शन, असत् में सत् का विवेक कल्पना का ही परिणाम है। गंगा की धारा प्रवाहमान है, मात्र जल का प्रवाह। जिसकी कल्पना-शक्ति सशक्त है वह उस धारा में गंगा-माता का, चिररमणीया-युवति का श्वेतवसना बाला का साक्षात्कार कर लेता है लेकिन कल्पना विहीन के लिए वही गंगा माता केवल जल का प्रवाह। एक उसी के तट पर परमविभूति को प्राप्त कर जीवन धन्य हो जाता है दूसरा केवल जलपान करके ही लौट जाता है। इसलिए सौन्दर्य-बोध के लिए जितना शास्त्रीय ज्ञान, संस्कार आदि आवश्यक है उतना ही कल्पना।

आचार्य शिवबालकराय ने कल्पना की महनीयता को उद्घाटित करते हुए कहा है—'तर्क वितर्क, संकल्प-विकल्प और लाभ-हानि का विचार बुद्धि-क्षेत्र के अन्तर्गत है, परन्तु बिम्ब विधान के द्वारा रमणीय भाव का सृजन कल्पना के अन्तर्गत। मन की वह शक्ति जो परिचित वस्तु में अभिनवता देखती है, नवीन लोक का सृजन करती है, भविष्य का स्वप्न देखती है, चित्रमयी भाषा में अपने को व्यक्त करती है, सुन्दरता का भावन कर आनन्दित होती है, कल्पना है। स्वर्ग-नरक, देवता-दैत्य आदि कल्पना लता के मधुर फल हैं, कला के माध्यम से कल्पना चिर सुन्दर का सृजन करती है। चिर सुन्दर चिर सुखकर हो जाता है। कलागत या प्रकृतिगत सुन्दरता की अनुभूति के लिए कल्पना तत्त्व का रहना अनिवार्य है। इसके अभाव में अलका बालुका, कैलास उजला टीला और कामरूप मेघ, भाप और धुएँ का जमाव दीख पड़ेगा।'^{२२}

वस्तु का रूप जब हमारी कल्पना में प्रवेश करता है तो सौन्दर्य की ऊर्मियां तरंगित होने लगती हैं। कल्पना तत्त्व के अभाव में सौन्दर्य का भावन नहीं किया जा सकता।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कल्पना सौन्दर्य बोध के लिए परमावश्यक संसाधन है। जितने भी महान कवि हुए, उनकी महानता में, उनकी सार्वजनीनता में कल्पना की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। कालिदास इसलिए विश्वबन्ध बन गए कि संसार की विरस वस्तुएं भी उनकी कल्पना सागर में स्नात होकर सरस बन गयीं। महाभारत का कामुक, लम्पट दुष्यन्त महाकवि की कल्पना कला का संस्पर्श पाकर चक्रवर्ती सम्राट् दुष्यन्त, धीरोदात्त नायक दुष्यन्त और प्रजावत्सल दुष्यन्त बन गया। क्रूर शाप भी महर्षि कालिदास की कला में आकर वरदान से भी अधिक श्रेयासाधक बन जाता है। यदि महर्षि दुर्वासा ने शकुन्तला को शाप नहीं दिया होता तो न तो शकुन्तला के पूर्व कृत पाप कर्मों का प्रक्षालन होता, न संस्कारों का रेचन। तब वह

न तो साम्राज्ञी पद की अधिकारिणी होती और न ,उसे भरत जैसे चक्रवर्ती पुत्र भी प्राप्त होता । उर्वशी जब कार्तिकेय के उद्यान में शाप-ग्रस्त होकर लता के रूप में परिणत नहीं हुई होती तो मात्र वह संसार में काम की पिटारी के रूप जानी जाती । वसन्तसेनापंक सरोवर (वेश्याकुल) में भी जन्म लेकर उस महा सहस्रार की ओर विकसित होती हुई, चारित्रिक विकास को प्राप्त करती हुई वैसे पद को न प्राप्त कर सकती जो वेश्या के लिए सर्वथा दुर्लभ है । पार्वती हिमालय की कुमारी कन्या न तो जगदम्बा ही बनी होती और न शिव जैसे पति ही उसे प्राप्त हुआ होता । यह सब कल्पना का खेल । जो कोई कल्पना के सत्सागर में निमज्जित हुआ, बस समझो कि स्वयं तो पार हो ही जाता है, अपने पीछे भी महापथ यात्रियों के लिए प्रकृष्ट-पाथेय छोड़ जाता है जिसका आश्रय लेकर अनन्त काल तक रसिक समुदाय आनन्द के महा-सागर में गोता लगाते रहता है । दुनिया का जहर भी कल्पना का संस्पर्श पाकर अमृत बन जाता है ।

कल्पना के द्वारा ही कवि अपनी कृति को, भक्त अपने भगवान् को सर्वांग सुन्दर बनाने का प्रयास करता है—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा-

रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नू ।

स्त्रीरत्नसृष्टिपरा प्रतिभाति सा मे

धातुविभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥^{१५}

अर्थात् ब्रह्मा ने जब शकुन्तला को बनाया होगा तब पहले उसका चित्र बनाकर या मन में संसार की सभी सुन्दरियों के रूपों को इकट्ठा करके उसमें प्राण डाले होंगे, क्योंकि ब्रह्मा की कुशलता और शकुन्तला की सुन्दरता दोनों पर बार-बार विचार करने से यही जान पड़ता है कि यह कोई निराले ही ढंग की सुन्दरी उन्होंने बनायी है । यह सब कल्पना का ही वैभव है कि शकुन्तला विश्वसुन्दरी की श्रेणी में प्रतिष्ठित हो गयी ।

विवेच्य कवि महाप्रज्ञ कल्पना-शक्ति के समर्थ धारक सारस्वत हैं । दुनिया की विकराल वस्तुएं भी इनकी कला, कल्पना की तुलिका में रमणीय बन गयी, सहज संवेश्य बन गयी हैं । रत्नपाल चरित में कवि की कल्पना शक्ति का उत्कृष्टतम रूप का निदर्शन मिलता है । प्रथम सर्ग में स्वर्गीय युवती के द्वारा रत्नपाल के गले में फेंकी गयी माला कितनी सुन्दर है । वह माला राजा रत्नपाल के गले में यशोलता की भांति सुशोभित हो रही है—

सद्यस्तदानीं गगनस्थितायाः

कस्याश्चिदुत्साह परायणायाः

कराब्जमुक्ता नवपुष्प माला

यशोलतेवास्य रराज कण्ठे ॥^{१६}

तत्काल उसी समय गगन में स्थित किसी उत्साह परायण युवति के हाथ से डाली हुई नए फूलों की माला राजा के गले में यशोलता की भांति सुशोभित होने लगी ।

भक्त अपने भगवान् को सर्वश्रेष्ठ रूप सम्पन्न देखना चाहता है। पितामह भीष्म के भगवान् त्रिभुवनकमन रूप वाले हैं तो गोपियों के प्रभु त्रैलोक्य सीभग रूप से सम्पन्न है। भक्तामरकार मानतुङ्ग का स्वामी अद्वितीय लावण्य से ललित है—

यः शान्तराग-सचिभिः परमाणुभिस्त्वं
निर्मापितस्त्रिभुवनेक ललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ॥^{१९}

हे त्रिभुवन-ललाम ! जिन शान्त-राग वाले और कान्तिमान परमाणुओं से तुम्हें रचा गया है, वे परमाणु इस धरातल पर उतने ही थे। यही कारण है कि इस पृथ्वी पर तुम्हारे जैसा दूसरा कोई रूप नजर नहीं आता।

भक्त कवि महाप्रज्ञ के भगवान्-गुरुदेव तुलसी इतने सुन्दर हैं कि चन्द्रमा की शोभा भी उनके सामने ह्रस्व पड़ जाती है। व्यतिरेक अलंकार की रमणीयता के साथ महाप्रज्ञ के गुरुदेव का दर्शन उपस्थित हैं—

कलावतां स्यात् प्रथमोऽयमर्च्यो
स्म्यहं द्वितीयस्त्विति चिन्तयार्त्तः ।
चन्द्रस्ततन्द्रो भ्रमति ह्युषापि
क्षीणः पुनस्तत् प्रकटीकरोति ॥^{२०}

अर्थात्, चन्द्रमा ने सोचा—‘आचार्य तुलसी कलावान् व्यक्तियों में प्रधान रूप से पूजनीय हैं और मेरा दूसरा स्थान है क्योंकि मेरी पूजा द्वितीया को होती है।’ उसकी नींद उड़ गई और वह रात को भी इधर-उधर भटकने लगा। वह क्षीण होता है, उपचित होता है। यह क्रम चलता जाता है।

७. सौन्दर्य पात्रों का चयन

उपर्युक्त विवेचन के बाद आचार्यश्री महाप्रज्ञ के संस्कृत साहित्य में उपस्थापित ‘सौन्दर्य-पात्रों’ (सुन्दर वस्तुओं) का उपन्यास करने का प्रयास किया जा रहा है।

मानवीय सौन्दर्य—

इस संवर्ग में मनुष्य-जगत् के पात्रों पर विचार किया जा रहा है। चन्दनबाला, भगवान् महावीर, रत्नपाल, रत्नवती, मंत्री, मेघकुमार आदि पात्रों के चारित्रिक-सौन्दर्य पर प्रकाश डाला जा रहा है—

चन्दनबाला --

चन्दनबाला महाप्रज्ञकृत खंडकाव्य अश्रुवीणा की नायिका है। संसार के दुर्दुर्ष पापियों से संश्रस्त चन्दनबाला भगवान् के शरणापन्न होती है। कितना संत्रास सहना बड़ा उस बेचारी को। क्रूर कर्मा शतानीक के द्वारा आंखों के सामने पिता की हत्या, राज्य में लूट-पाट, विधर्मों की अधिक की भोगवासना से विदग्ध माता की मृत्यु (जिह्वा खींचकर स्वयं प्राण त्याग कर सतीत्व की रक्षा), सेठानी द्वारा प्रताड़ना—माया मुड़वाना, शरीर में बेड़ियों का पड़ना—इन सबसे वह राजबाला भयाक्रान्त हो गयी थी

अचानक प्रभु को देखा—बस क्या था, आशा की चिनगारी जल गई। इस अवस्था को सुन्दर वर्णन कवि महाप्रज्ञ ने किया है—

खेदं स्वेदो बहिरपनयञ्जात आकस्मिकेन,
 प्रोत्लासेनाऽभ्युदयमयता दर्शनाद् विश्वभर्तुः ।
 कामं भ्रान्तां किमपि किमपि प्रस्मरन्ती स्मरन्तीं
 स्वस्थां चक्रे पुलकिततनुं चन्दनां स्मेरनेत्राम् ॥^{१८}

अर्थात् विश्वभर्ता भगवान् महावीर के दर्शन से चन्दनबाला को अकस्मात् जो अपार हर्ष हुआ, उससे उसके शरीर से स्वेद टपकने लगा। उस समय ऐसा लगता था, मानो वह स्वेद चन्दनबाला के अन्तर्वर्ती संताप को बाहर खींच लाया है। जो कुछ क्षण पहले दिङ्मूढ़ सी बनी हुई, अर्ध-विस्मृति स्थिति में डुबकियां लगा रही थी, अब वह स्वस्थ हो गई। उसका शरीर पुलकित हो उठा और आंखें विकसित हो गईं।

जब अपनी आंखों के सामने सहसा आशा-महल ढह जाए तो व्यक्ति की, भक्त की कैसी स्थिति हो जाती है—इसका मनोविश्लेषणात्मक चित्र का उपस्थापन महा-कवि ने किया है। महावीर द्वार पर आकर भी भिक्षा लेना तो दूर रहा बिना कुछ कहे ही लौट गए। बस चन्दनबाला की क्या दशा हो गयी यह तो सहृदय चेतन प्राणी अथवा महाप्रज्ञ जैसे संवेदनशील महाकवि ही समझ सकता है—

वाणी वस्त्रान्न च बहिरगाद् योजितौ नापि पाणी
 पाञ्चालीवाऽनुभवविकला न क्रियां काञ्चिदाहृतं ।
 सर्वैरङ्गैः सपदि युगपन्तीरवं स्तब्धताऽऽप्ता
 वाहोऽश्रुणामविरलमभूत् केवलं जीवनाङ्कः ॥^{१९}

अर्थात् चन्दनबाला के मुंह से उस समय न शब्द निकल पाया और न उसके हाथ ही जुड़ पाए। पुतली की तरह वह ऐसी अनुभव-शून्य हो गयी कि उसमें कुछ क्रिया करने की क्षमता भी नहीं रही। उसके समस्त अंगों में एक साथ तेजी से निस्तब्धता छा गई कि उसकी आंखों में अजस्र बहने वाले आंसू ही उसके जीवित होने के चिह्न जान पड़ते थे।

चन्दनबाला के अनेक रूपों का सुन्दर निरूपण महाप्रज्ञ ने किया। आंसू-कन्या के रूप में उसका हृद्य-लावण्य सहज-संवेद्य है। शिशकी भरती हुई, शब्दों के द्वारा आंसुओं के द्वारा प्रभु के पास संदेश भेजती हुई दध्रिवाहन कन्या उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ती है। आंसू के अभाव में जो भगवान् महावीर लौट गए थे वे ही आंसुओं की धारा में बहकर पुनः वापस लौट आए। चिरप्रतीक्षित आशा पूर्ण हो गयी। भगवान् का अभिग्रह भी पूर्ण हुआ और चन्दनबाला कृतपुण्य हो गई। उसका आंगन रत्नों की बरसात से ऊबड़-खाबड़ सा हो गया—

सद्योजातं स्थपुटमखिलं प्रागणं रत्नवृष्ट्या
 त्रुट्यद्बन्धं गगनपटलं जातमेतत् प्रतीतम् ।
 तर्कक्षेत्रं भवत् सुतरामेष योगानुभाव-
 स्तद्भाग्याध्रे रविरुद्गमत् स्पष्टमद्यापि तत् ॥^{२०}

चन्दनबाला के घर का आंगन रत्नों की बरसात से ऊबड़-खाबड़ सा हो गया । आकाश के बन्धन टूट पड़े हों ऐसा लगता था । यह योग का प्रभाव तर्क का विषय हो सकता है किन्तु उसके भाग्याकाश में जिस सूर्य का उदय हुआ, वह तो आज भी स्पष्ट है ।

भगवान् महावीर —

अश्रुवीणा, संबोधि, अतुला-तुला आदि में भगवान् महावीर का दर्शन होता है । अश्रुवीणा में पादविहारी अभिग्रहधारी, कहरणाशील एवं परम-तीर्थंकर के रूप में उपस्थित हैं ।

सौन्दर्य के खनि —

सुन्दर रूप पाप का कारण नहीं होता बल्कि वह पवित्रता की प्रसवभूमि, तपस्या का पर्यवसित रूप, अनाविलता का निरूपम विग्रह और सदाशयता का अशोष्य आकर बनकर संसार में उपस्थित होता है । पार्वती का रूप-लावण्य का दर्शन पाकर न जाने कितने तापस धन्य-धन्य हो गए । ब्रह्मचारी वेशधारी स्वयं शिव की उक्ति है—

यदुच्यते पार्वति ! पापवृत्तये
न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।
तथा हि ते शीलमुदारदर्शने !
तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥

हे पार्वति ! यह जो कहा गया है कि सुन्दर आकृति सदाचार से कभी विच्छिन्न नहीं होती, यह बात बिलकुल ठीक है । हे रूपवति ! तुम्हारा सद्व्यवहार मुनियों को भी शिक्षा देने वाला है । अतः यह निश्चित है कि रूप शील के अनुसार ही होता है ।

वह रूप रूप क्या ? जिसके दर्शन से मन पवित्र न हो जाय काम का काम (कार्य) स्थगित न हो जाए, सम्पूर्ण विभूति का बोध न हो जाए । भागवत के कृष्ण का त्रैलोक्य-सुन्दर रूप को निरखकर मनुष्य को कौन कहे वन्य पशु-पक्षी, हरिणियां भी धन्य हो गयीं—

त्रैलोक्य सौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यविभ्रन् ॥¹¹

सुन्दर रूप के दर्शन से कलुष समाप्त हो जाते हैं, शिथिलता शक्ति बनकर आती है तो वासना ऐश्वर्य का रूप धारण कर लेती है । दुःख दैन्य और पीड़ा तीनों मिलकर परमविभूति के रूप में प्रकट होते हैं । भगवान् महावीर के अप्रतिम रूप का दर्शन चन्दना ने किया, कब ? जब वह संसार के अन्धकार एवं कष्ट-सागर में आकण्ठ निमज्जित हो चुकी थी, प्रभु-दर्शन हुआ सब कुछ मिल गया । इस स्थिति का वर्णन महाप्रज्ञ इस प्रकार कर रहे हैं—

खण्ड २३, अंक ४

४७३

खेदं स्वेदो बहिरपनयञ्जात आकस्मिकेन
 प्रोल्लासेनाऽभ्युदयमयता दर्शनाद् विश्वभर्तुः ।
 कामं भ्रान्तां किमपि किमपि प्रस्मरन्तीं स्मरन्तीं,
 स्वस्थां चक्रे पुलकिततनुं चन्दनां स्मेरनेत्राम् ॥³³

अर्थात् विश्वभर्ता भगवान् महावीर के दर्शन से चन्दनबाला को अकस्मात् जो अपार हर्ष का अनुभव हुआ उससे उसके शरीर से स्वेद टपकने लगा । उस समय ऐसा लगता था मानो वह स्वेद चन्दनबाला के अंतर्वर्ती संताप को बाहर खींच लाये हैं । जो कुछ क्षण पहले दिङ्मूढ़ सी बनी हुई अर्ध-विस्मृति की स्थिति में डुबकियां लगा रही थी, अब वह स्वस्थ हो गई । उसका शरीर पुलकित हो उठा और आंखें विकसित हो गईं ।

संबोधि के महावीर—

संबोधि में भगवान् के उदात्त रूप का दर्शन होता है । जगदोद्धारक, तीर्थ-प्रवर्तक और नित्यवर्धन शील रूप के निरूपण के साथ ही संबोधि का प्रारंभ होता है—

ऐं ॐ स्वर्भूभुवस्त्रय्यास्त्राता तीर्थंकरो महान् ।
 वर्धमानो वर्धमानो ज्ञानदर्शन सम्पदा ॥
 अहिसामाचरन् धर्मं, सहमानः परीषहान् ।
 वीर इत्याख्यया ख्यातः परान् सत्त्वानपीडयन् ॥
 अहिसा तीर्थमास्थाय तारयन् जनमण्डलम् ।
 चरन् ग्रामानुग्रामं राजगृहमुपेयिवान् ॥³⁴

उपर्युक्त श्लोक त्रय में भगवान् के त्रैलोक्य-तारक, महान् तीर्थंकर, वर्धमान, ज्ञान-दर्शन सम्पदा में वर्धनशील, अहिसाचारी, परीषहजयी, सत्त्वसंरक्षक (जीव-संरक्षक), वीर, अहिसा रूप तीर्थ के संस्थापक, संसार के तारक, पादविहरणशील आदि गुणों का समुपस्थापन सहजरूप में किया गया है ।

संबोधि के अन्त में भगवान् के अप्रतिम रूप-लावण्य का संरूपण प्राप्त होता है । मेघकुमार स्तुति करते हुए कहता है—

धर्मवरचातुरन्त-चक्रवर्ती महाप्रभः ।
 शिवोऽचलोऽक्षयोऽनन्तो, धर्मदो धर्मसारथिः ॥
 जिनश्च जापकश्चासि तीर्णस्तथासि तारकः ।
 बुद्धश्च बोधकश्चासि मुक्तस्तथासि मोचकः ॥

अर्थात् प्रभो ! आप धर्म-चक्रवर्ती हैं । महान् प्रभाकर हैं, शिव हैं, अचल हैं, अक्षय हैं, अनन्त हैं, धर्म का दान करने वाले हैं और धर्मरथ के सारथि हैं । आप आत्मजेता हैं तथा दूसरों को विजयी बनाने वाले हैं । स्वयं संसार सागर से तर गये हैं, दूसरों को उससे तारने वाले हैं । आप बुद्ध हैं दूसरों को बोधि देने वाले हैं । स्वयं मुक्त हैं दूसरों को मुक्त करने वाले हैं ।

इस प्रकार भगवान् महावीर के कमनीय चरित्र का उपस्थापन आचार्य महाप्रज्ञ ने किया है ।

रत्नपाल—

महाप्रज्ञ कृत रत्नपालचरित का नायक रत्नपाल है। उसके युवक-शरीर की सुन्दरता अप्रतिम थी। स्वर्गीय युवति उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर उसे अपने पति के रूप में वरन कर लेती है।^{2*} युवति स्तुति करती है जिसमें राजा के विभिन्न गुणों पर प्रकाश डाला गया है। वह वीर शिरोमणी, शत्रुरूपी अंधकार के लिए सूर्य, जगत् के लिए अगम्यगति, रम्यमति, वाञ्छाकल्पतरु, पृथ्वीपति आदि गुणों से युक्त है।^{3*} भ्रमणशील युवक, अनुरागी एवं भ्रमणधर्म में अनुरक्त के रूप में उपलब्ध होता है। अंतिम परिणति श्रामण्य के साथ मोक्ष धर्म में होती है।^{4*}

रत्नवती—

यह रत्नपाल चरित की नायिका है। इसके मुग्ध रूप लावण्य का निदर्शन मिलता है। आश्चर्य रस के साथ काव्य-धरातल पर इसका अवतरण होता है। वह उत्साह पारायण, स्तुति-संगायिका, रत्नपालमय जीविता, विरह व्यथिता एवं अंत में भ्रमणधर्मासक्ता के रूप में दिखाई पड़ती है।

मन्त्री—

रत्नपाल चरित्र का पात्र मन्त्री राजा रत्नपाल का अनन्य सहायक के रूप में काव्य-पटल पर उपस्थित होता है। अर्हनिश राज्य एवं राजा के विकास में आरक्त है। अंत में श्रामण्य धर्म स्वीकार करता है।

इस प्रकार विभिन्न पात्रों के यथोचित रूप के संधारण में महाकवि महाप्रज्ञ अधिक सफल हुए हैं।

प्राकृतिक-सौन्दर्य

प्रकृति जीवन सहचरी है। उसका प्रत्येक कण मानवीय जीवन के लिए निराकांक्ष सहायक है। कवि की चेतना जितनी अधिक विकसित होती है उतना ही वह प्रकृति की सुन्दरता में रमण करता है। आचार्य महाप्रज्ञ एक नैष्ठिक महाव्रती और संसार त्यागी सन्यासी होने के नाते अन्य कवियों की तरह इनका वर्णन खुलता नहीं—यह सत्य है लेकिन रत्नपालचरित एक ऐसा काव्य है कि उसमें आचार्य महाप्रज्ञ महाकवि महाप्रज्ञ के रूप में उपस्थित होते हैं। संबोधि के महाप्रज्ञ एक धर्मोपदेश एवं मार्गदर्शक के रूप में, अश्रुवीणा के महाप्रज्ञ भक्तकवि के रूप में उपस्थित होते हैं। रत्नपालचरित में प्रथम चार सर्गों में इनका विशुद्ध कवित्व प्रस्फुटित हुआ है पांचवें सर्ग स्वीकृत मार्ग के अनुरोध में आसक्त हो गया है। रत्नपालचरित्र में ही प्रकृति-माधुरी का मौग्धत्व दर्शन होता है। वहां प्रकृति मानव जीवन की सहायिका, उद्बोधिका एवं परोपकार-निष्ठिता के रूप में उपस्थित है। रात्री का मानवीय रूप में उपस्थान सुन्दर एवं हार्द है। वृक्षों का क्षमापुत्र, पृथ्वी सर्वसहा नायिका एवं पशु-पक्षी जगत् मनुष्य-सहचर के रूप में उपस्थित है।

अन्त में आचार्य महाप्रज्ञ आचार्यत्व के निर्वाहक तो है ही सौन्दर्य के सम्यक् आराधक भी है। यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य-बोध उसी का विषय हो सकता है जिसका बाहर भीतर सुन्दर हो और यह सुन्दरता ध्यान-साधना से लब्ध होती है।

सन्दर्भ :

१. रत्नपालचरित (आचार्यश्री महाप्रज्ञ की अप्रकाशित कृति) ५.२८
२. अश्रुवीणा ४
३. संबोधि ४.२२
४. कुमार संभव ५.१
५. तत्रैव ५.२
६. श्री शंकराचार्य विरचित देव्यापराधक्षमापन स्तोत्र १२
७. रघुवंश महाकाव्य १६.१७
८. रत्नपालचरित (आचार्य महाप्रज्ञ की अप्रकाशित कृति) १.३३
९. तत्रैव ३.६,९
१०. कुमार संभव ५.७२
११. रत्नपालचरित ५.२६-२८
१२. वाल्मीकी रामायण १.२.१५
१३. अभिज्ञान शाकुन्तल
१४. मेघदूत २।४२
१५. उत्तररामचरित १.३८
१६. अश्रुवीणा १
१७. संबोधि ४.७
१८. अश्रुवीणा ६
१९. अतुला तुला का पञ्जम विभाग
२०. तत्रैव, आचार्य स्तुति १२
२१. अश्रुवीणा २४
२२. कालिदास के सौन्दर्य सिद्धान्त और मेघदूत, पृ. ७
२३. तत्रैव पृ. ८
२४. अभिज्ञान शाकुन्तल २।९
२५. रत्नपालचरित १.२०
२६. भागवतपुराण १.९.३३
२७. तत्रैव १०.२९.४०
२८. भक्तामर स्तोत्र १२
२९. अतुला-तुला, पंचम विभाग, आचार्य स्तुति ९
३०. अश्रुवीणा १०
३१. तत्रैव २१
३२. ,, ९३
३३. संबोधि १.१-३
३४. रत्नपालचरित १.२०
३५. तत्रैव १.२२-२५
३६. ,, ५.४८

—डॉ० हरिशंकर पाण्डेय
व्याख्याता, प्राकृत विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान
साङ्गु

बौद्ध धर्म दर्शन : एक दृष्टि

■ माधोदास मूधड़ा

गौतम बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी कुंज में ईसा पूर्व ५६७ ई० में हुआ था। गौतम के पिता शुद्धोधन एवं माता का नाम मायादेवी था। गौतम के जन्म के पश्चात् सातवें दिन उनकी माता की मृत्यु हो गयी, अतएव उनका लालन-पालन उनकी विमाता महयापति ने किया। गौतम के जन्म के ग्रहों पर विचार कर ज्योतिषियों ने कहा था कि वह चक्रवर्ती सम्राट् होगा अथवा किशोर अवस्था में ही दुःखी, ज्वरी, मृत-शरीर तथा परिव्राजक को देखकर गृहस्थ-धर्म छोड़ देगा। दूसरी भविष्यवाणी से आशंकित होकर शुद्धोधन ने गौतम का विवाह एक क्षत्रिय राजा की रूपवती कन्या यशोधरा से कर दिया। एक दिन गौतम जब उद्यान में टहल रहे थे तब एक बाण-बिद्ध राजहंस उनके निकट आकर गिर पड़ा। गौतम हंस की पीड़ा से द्रवीभूत होकर उसका उपचार करते लगे। उन्हें दुःख की मर्मन्तिक अनुभूति हुई। इसी प्रकार कुछ समय के पश्चात् एक दिन कपिलवस्तु के मार्ग पर एक रुग्ण व्यक्ति फिर वृद्ध व्यक्ति और पश्चात् एक मृत व्यक्ति की शवयात्रा को देखकर वे मर्माहत हुए और जीवन की क्षणभंगुरता एवं दुःखपरकता से बड़े चिंतित हुए। एक परिव्राजक को भी उन्होंने देखा। गौतम ने मन में निश्चय किया कि इन दुःखों का कारण खोजना चाहिए और साथ ही साथ उससे मुक्त होने का उपाय भी। इसके लिए उन्होंने मन में संकल्प किया कि दुनिया के सुखों का परित्याग कर संन्यास लेना आवश्यक है। इसलिए एक रात अपनी पत्नी यशोधरा एवं बेटे राहुल को निद्रा में ही छोड़कर गृह का परित्याग कर दिया। बौद्ध धर्म में इसे 'महानिष्क्रमण' कहा जाता है। उन्होंने सांख्योपदेशक, आराड के प्रवचनों को सुना पर उन्हें संतोष नहीं हुआ। छः वर्ष के पश्चात् उन्होंने उरुबेला में चार आर्य-सत्त्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति की और ४११ ईसा पूर्व वैशाखी पूर्णिमा को जब वे एक पीपल के वृक्ष के तले ध्यान मग्न थे, तब बुद्धत्व प्राप्त किया। तत्पश्चात् मिगदाय (सारनाथ) में पंच भिक्षुओं को प्रथम उपदेश दिया—जिसे 'धर्मचक्र प्रवर्तन' कहा जाता है। गणराज्यों में उन्होंने संघ की स्थापना की और सामान्य जनता के कल्याणार्थ मागधी भाषा में धर्म व विनय की शिक्षा दी। बुद्ध ने तत्कालीन यज्ञों में दी जाने वाली पशुबलि के विरुद्ध अहिंसा-धर्म पर विशेष आग्रह किया।

गौतम बुद्ध ने सरल आचार धर्म का निर्देश करना ही उपयोगी व सार्थक समझा किन्तु बौद्ध धर्म के परवर्ती विद्वानों व आचार्यों ने उनके सिद्धांतों की गंभीर व्याख्या व दार्शनिक विवेचना की। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके उपदेशों को लेकर महा-तुलसी प्रज्ञा, लाङ्गु : खंड २३, अंक ४

कश्यप की अध्यक्षता में प्रथम संगोष्ठी राजगृह में हुई। बुद्ध ने पट्ट शिष्य आनन्द के सहयोग से विनयपिटक का संकलन किया गया।

चार आर्यसत्य

ध्यानावस्था में बुद्ध ने चार आर्यसत्यों का अनुभव किया, जिनका कर्तव्य-बोध के रूप में विवेचन किया जाता है, वे निम्नलिखित हैं—

- (१) दुःख (२) दुःख का कारण
(३) दुःख का अन्त (४) दुःखों के अन्त के उपाय।

बुद्ध ने जरा-मरण के रहस्य को समझ कर चार आर्यसत्यों का प्रतिपादन किया। इस भवचक्र में उन्होंने दुःख का हेतु 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के द्वारा स्पष्ट किया। प्रतीत्य अर्थात् कार्य के प्रति कारणों के इकट्ठा होने पर और समुत्पाद अर्थात् उत्पत्ति। इसका आशय है कि ऐसे कारण कौन-कौन से हैं, जिनके होने पर जरा-मरण रूप दुःख उत्पन्न होता है। बुद्ध ने उसके वारह कारण गिनाये, जिसे वे भवचक्र कहते हैं, ये हैं—

१. अविद्या २. संस्कार ३. विज्ञान ४. नामरूप ५. षडायतन ६. स्पर्श ७. वेदना
८. तृष्णा ९. उपादान १०. भव ११. जाति और १२. जरा-मरण।

तथागत के भवचक्र का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है—

१. अविद्या (भूत जीवन)
२. संस्कार
३. विज्ञान
४. नामरूप
५. षडायतन
६. स्पर्श
७. वेदना (वर्तमान जीवन)
८. तृष्णा
९. उपादान
१०. भव
११. जाति (भविष्य जीवन)
१२. जरा-मरण

प्रतीत्य समुत्पाद

कोई भी जीव दुःख से मुक्त नहीं है तथा दुःख किसी को प्रिय नहीं है। उससे छुटकारा पाने के लिए सबको प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए दुःख के कारणों को जानना आवश्यक है, बिना कारण के कार्य नहीं होता और कारण के नाश के बिना कार्य का नाश नहीं हो सकता। इसलिए सभी को दुःख के कारणों को जानना चाहिए और उसके नाश के उपाय ढूँढ़ने चाहिए। हमारे दुःखों का मूल कारण अविद्या है जिसकी अद्भुत शक्ति से कारणों की एक परम्परा हो जाती है। इस कारण परम्परा को प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं। एक वस्तु की प्राप्ति होने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति

होती है, अर्थात् एक कारण के आधार पर एक कार्य उत्पन्न होता है जो अविद्या का स्वरूप है। वह पुनः कारण बनकर एक भिन्न कार्य को उत्पन्न करता है। इस प्रकार कार्यकारण की क्रम-परम्परा की एक शृंखला बन जाती है। इन्हीं कार्यकारणों की परम्परा में संसार चक्र चलता रहता है, इसे 'भवचक्र' भी कहते हैं, इसके बारह स्वरूप ऊपर रेखांकित किए गए हैं। जब तक जीव इस भावचक्र से मुक्त नहीं होता तब तक उसके दुःखों का नाश नहीं होता। इन दुःखों को समाप्त करना आवश्यक है। बुद्ध ने बताया कि दुःख नित्य नहीं है। नित्य तो कुछ भी नहीं है, इन दुःखों के नाश के लिए उपाय हैं। उन उपायों के द्वारा दुःख का नाश कर जीव अपने जीवन में परमपद को प्राप्त कर सकता है। 'भवचक्र' को समाप्त कर परमपद को प्राप्त करने के लिए बुद्ध ने नैतिक जीवन का मार्ग प्रशस्त किया। इसे अपनाते से मनुष्य सभी दुःखों से निवृत्त हो जाता है और परम आनन्द की अनुभूति करता है। इसे अष्टांग मार्ग कहते हैं।

बुद्ध का अष्टांग मार्ग

गौतम बुद्ध का मुख्य उपदेश नीति परक है, जिसका मनोवैज्ञानिक स्तर पर गंभीर विचार किया गया है। नैतिक जीवन तो सामान्य जीवन से निकलकर मोक्ष पाने का सेतु है। बौद्ध धर्म मनुष्य के नैतिक व्यक्तित्व का निरूपण करता है। बुद्ध ने कर्म, पुनर्जन्म पर विशद विचार किया। मनुष्य की इच्छा की समाप्ति होने पर उसके कर्म भी समाप्त हो जाते हैं। कर्म दो प्रकार के हैं—बौद्धिक व ऐच्छिक। शुभ और अशुभ कर्म मनुष्य जीवन में उपलब्ध होते हैं। शुभ कर्म का उद्देश्य लोक कल्याण है और अशुभ कर्म केवल निजी स्वार्थ है। बौद्ध धर्म वस्तुतः मध्यम मार्ग का धर्म है इसका मानना है, शारीरिक यातना मात्र में सिद्धि नहीं है और न भोग युक्त जीवन में है। दोनों के मध्य में विवेकपूर्ण जीवन स्थित होता है, इसे अष्टांग मार्ग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है:—

- (१) सम्यक् दृष्टि—शरीर, मन और वाणी से यथार्थ रूप में ज्ञान प्राप्त करना ही सम्यक् दृष्टि है।
- (२) सम्यक् संकल्प—आर्य सत्त्यों के अनुसार जीवन बिताने की दृढ़ इच्छा ही 'संकल्प' है।
- (३) सम्यक् वाक्—कटु भाषण और व्यर्थ की बातों का परित्याग कर मीठी वाणी बोलने का नाम ही सम्यक् वाक् है।
- (४) सम्यक् कर्म—पाप मुक्त जीवन ही सम्यक् कर्मान्त है।
- (५) सम्यक् जीविका—निष्कपट एवं वास्तविक कर्मों के द्वारा जीविका का उपार्जन करना ही सम्यक् जीविका है।
- (६) सम्यक् स्मृति—चित्त को चित्त और मानसिक अवस्था के रूप में बराबर स्मरण करते रहना ही सम्यक् स्मृति है।
- (७) सम्यक् प्रयत्न—बुरी भावनाओं को छोड़कर अच्छी भावनाओं में प्रवृत्त होना ही सम्यक् प्रयत्न है।

(८) सम्यक् समाधि—चित्त की एकाग्रता को ही समाधि कहते हैं।

बौद्ध धर्म में अष्टांगिक मार्ग का विशद विवेचन किया गया है, यही आत्म विकास का साधन है। जीव को यह करुणा और समभाव और सहिष्णुता की ओर ले जाता है। वास्तव में अष्टांग मार्ग अपनाते से आत्म विजय संभव है।

निर्वाण

बुद्ध की दृष्टि से निर्वाण बुझ जाने को कहते हैं। यह प्रवाह के रूप से उत्पन्न नामरूप तृष्णा के वशीभूत होकर जो एक जीवन-प्रवाह के रूप से गतिशील है, इसी गति या प्रवाह का सर्वथा विच्छेद हो जाना ही 'निर्वाण' है। दीपक में डाले गये तेल के समाप्त हो जाने पर जैसे दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार काम, भोग, पुनर्जन्म और आत्मा के नित्यत्व आदि के क्षीण हो जाने पर आवागमन नष्ट हो जाता है। बुद्ध ने उस अवस्था को निर्वाण की अवस्था कही है, जहां तृष्णा नष्ट हो गयी है और भोगादि का कोई अस्तित्व नहीं रह गया है। जीव के मर जाने के बाद क्या होता है, इसको बुद्ध ने इस आशय से छोड़ दिया है कि जो व्यक्ति अनात्मवाद को जान लेता है उसके लिए 'निर्वाण' की उस अवस्था को जानना शेष नहीं रह जाता है। इस संबंध में अधिक कहना उन्होंने वैसा ही समझा जैसे कि अज्ञानी बालकों के सामने गूढ बातों की व्याख्या करके उन्हें चौंका दिया जाय। इसको उन्होंने 'अव्यक्त' (अकथनीय) के अन्तर्गत माना है। बुद्ध ने लोक, अनित्य, जीव, शरीर, पुनर्जन्म और निर्वाण के संबंध में कहा है कि उन्हें बताने की आवश्यकता ही नहीं है।

निर्वाण का आशय जीवन की समाप्ति नहीं, बल्कि जीवन की अनन्त शांति की अवस्था है। निर्वाण का आशय है मृत्यु के बाद सर्वथा अस्तित्वरहित हो जाना। निर्वाण से जो बुझने का अर्थ लिया जाता है उसमें जीवन का 'अन्त न होकर लोभ, घृणा, हिंसा आदि प्रवृत्तियों के बुझ जाने से है। जब वासनाएं बुझ जाती हैं तो भूत जीवन भावी जीवन और वर्तमान जीवन के जो द्वादश भवचक्र हैं जिसका ऊपर विवेचन हुआ है उनकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिए निर्वाण को 'सितिभाव' की अवस्था कहा गया है। जीवन की वह पवित्रता, शांति, शिवतत्व और प्रज्ञा की अवस्था है। राग, द्वेष, घृणा, कर्म आदि बंधन के बीज हैं। इन्हीं से पूर्व जन्म का चक्र चलता है। किंतु बीज का निरोध कर देने से वह पल्लवित तथा अंकुरित नहीं होने पाता।

निर्वाण वस्तुतः निश्चयस, मुक्ति, अमृत, परमानन्द और परम शांति की अवस्था है। वह वर्णनातीत है। वह तर्क और प्रमाण से रहित अलौकिकावस्था है। उस अवस्था तक पहुंचने के लिए बौद्ध दर्शन में आठ मार्ग (अष्टांग) बताये गये हैं। बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रंथ 'धम्मपद' में कहा गया है कि स्वास्थ्य की प्राप्ति बड़ा लाभ है, संतोष ही सबसे बड़ा धन है, विश्वास ही सबसे बड़ा संबंधी है और निर्वाण ही परम सुख है। आचार्य शांतिदेव ने दो प्रकार के निर्वाण का उल्लेख किया है—

१. सउपादिसेस निर्वाण

२. अनुपादिसेस निर्वाण

पांच स्कंधों के विद्यमान रहने पर जिस निर्वाण की प्राप्ति होती है वह सउपा-

दिसेस निर्वाण कहलाता है । पांचों स्कंधों का निरोध होने पर जिस निर्वाण की प्राप्ति होती है वह निरापादिसेस निर्वाण कहलाता है ।

बुद्ध का शाश्वत उपदेश

बुद्ध ने शाश्वत उपदेश द्वारा जन-जन में धर्म के प्रति आस्था और नैतिक जीवन यापन की एक श्रेष्ठ पद्धति बताई है । बुद्ध के उपदेशों के संबंध में कहा जाता है कि ये उपदेश प्राचीन ऋषियों के उपदेश से किसी प्रकार भिन्न नहीं थे । इसलिए जनता में इनका पूर्ण आदर हुआ । इनसे प्रभावित होकर बुद्ध के कहे हुए मार्ग का लोगों ने अनुसरण किया । संक्षेप में बुद्ध के उपदेशों का सार निम्नलिखित है—

(१) संपत्ति विनाशी और निःसार है, यह जानकर धर्मानुसार भिक्षुओं, ब्राह्मणों, गरीबों और मित्रों में दान करो, दान से श्रेष्ठतर मित्र कोई नहीं ।

(२) निर्दोष, पवित्र और निष्कलंक शीलधारण करो, शील ही श्रेष्ठता का आधार है जैसे पृथ्वी चराचर का आधार है ।

(३) धर्म, शम, शक्ति, ध्यान, ज्ञान आदि का आचरण करो जिससे कि जन्म के दूसरे छोर पर पहुँच कर तुम 'जित' बन सको ।

(४) दया, क्षमा, प्रसन्नता एवं औदासीन्य का सदा ध्यान रखो । इससे यदि तुम्हें उच्चता नहीं भी मिली तो ब्रह्मविहार अवश्य मिलेगा ।

(५) काम, विचार, प्रीति तथा मुख-दुःख को ध्यान द्वारा निरस्त करके ही तुम बुद्धत्व प्राप्त कर सकोगे ।

(६) तत्वों की उत्पत्ति इच्छा से नहीं, काल से नहीं प्रकृति से नहीं, स्वभाव से भी नहीं । न वे ईश्वर से जन्में हैं । वे अविद्या और तृष्णा से जन्में हैं ।

(७) जहाँ प्रज्ञा नहीं है वहाँ ध्यान नहीं है जहाँ ध्यान नहीं है वहाँ प्रज्ञा नहीं है । जिसने इन दोनों को प्राप्त कर लिया है उसके लिए संसार-सागर गोपद के समान है ।

(८) धार्मिक रीति रिवाज, गलत धारणाएं, मिथ्या दृष्टि, शंका एवं विचिकित्सा तीनों बंधन हैं । इनसे मुक्त होने का प्रयत्न करें ।

(९) हानि, लाभ, हर्ष और विषाद, कीर्ति और अपकीर्ति, निन्दा और स्तुति इन आठों द्वन्द्वों के प्रति समान भाव रखना चाहिए । इनमें भेद का विचार मत करो ।

(१०.) बुद्ध ने कहा, हे पुरुष श्रेष्ठ, संसार के इस असार वृक्ष से निःसंग हो जाओ क्योंकि तुमने स्वयं देख लिया है कि यह सब अनित्य है, अनात्म है और अस्थान है ।

बुद्ध का दार्शनिक सिद्धांत

बुद्ध की शिक्षा में नीति प्रधान थी । उनका दार्शनिक सिद्धांत तीन धारणाओं में विवेचित है—

(१) संसार में जो कुछ है, अस्थिर है, जो बना है वह अवश्य टूटेगा ।

(२) जीवन दुःख से भरा है, दुःख की निवृत्ति जीवन की समाप्ति के साथ ही हो सकती है ।

(३) नित्य आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं, चेतना और इसके अंश सब अनित्य है ।

(१) जो बना है, वह अवश्य टूटेगा । यह ठीक है, परन्तु बनने और टूटने का अर्थ क्या है ? किसी वस्तु का बनना कुछ अंशों का वियोग है । अन्तिम अंश तो न बनते हैं, न टूटते हैं, यदि वे बने या टूटे तो वे अन्तिम अंश नहीं, उनकी वनावट में अन्य अंश विद्यमान हैं । दृष्ट जगत् परमाणुओं के संयोग का फल है, और जो कुछ वास्तव में 'परम-अणु' है, वह मिश्रित नहीं हो सकता । उनके संघात से ही विभिन्न पदार्थ व वस्तुएं बनती हैं । इन संघानों में परिवर्तन या विघटन होता रहता है । यही कारण है कि संसार में तो कुछ है वह अस्थिर है । प्रत्येक वस्तु की अवस्था बदलती रहती है ।

(२) दुःख के अस्तित्व को कोई भी इन्कार नहीं सकता । परन्तु जैसा हम देख चुके हैं, जीवन में दुःख के साथ सुख भी मौजूद है । सुख देर तक नहीं रहता तो दुःख भी अस्थिर ही होता है । जीवन में व्याप्त दुःख को बुद्ध ने बड़ी गहराई से देखा और इस दुःख के कारण को खोजते हुए उन्होंने पाया कि तृष्णा ही एक मात्र दुःख का कारण है जितना हम अपनी इच्छाओं और वासनाओं को कम करेंगे उतने अनुपात में हम दुःख से मुक्त हो जायेंगे ।

(३) बुद्ध की दार्शनिक शिक्षा में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंश आत्मा के संबंध में है जिनका पांच स्कंधों में वर्णन किया है, ये पांच स्कंध हैं—

शरीर दृष्टि पदार्थों में एक है । उपलब्ध ज्ञान, भाव और क्रिया प्रत्येक चेतन अवस्था के तीन पक्ष हैं । सामान्य चेतना इन पक्षों का आश्रय है । इन पांचों अंशों की निःसंदेह अस्थिर परन्तु यह धारणा कि मनुष्य में इनके अतिरिक्त कुछ नहीं यह विवादास्पद है । बुद्ध का उद्देश्य जन्म-मरण के चक्र से छूटना था उन्होंने अपने पूर्व जन्मों का जिक्र किया । शरीर के अंश तो मृत्यु होने पर बिखर जाते हैं । तब आता और जाता कौन है ? चक्र में कौन पड़ा है ? बुद्ध के नियमानुसार जब तक कर्म समाप्त नहीं हो जाता इसका फल चरित्र के रूप में कायम रहता है और एक जीवन से दूसरे जीवन में पहुंचता है । अस्थिरता की दुनिया में कर्म-नियम स्थिर है, पुण्य और पाप का फल अवश्य मिलता है । यहां फिर वही प्रश्न उठता है—कर्म करता कौन है ? बुद्ध के अनुसार, कर्म होता है और फल भुगतता है । अनुभववाद हमें इसी परिणाम तक पहुंचाता है । इसके अतिरिक्त आत्मा के संबंध में बुद्ध कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देते । बुद्ध या तथागत इस प्रश्न पर मौन हो जाते हैं । वे नैतिक जीवन पर बल देते हैं । इसी से परम पद प्राप्त किया जा सकता है । इस जीवनकाल में दुःख से निवृत्ति हो जाती है । बुद्ध ने अपनी यात्रा के दौर में जो उपदेश दिया वही परवर्ती आचार्यों के लिए धर्म और दर्शन का आधार बना है ।

बौद्ध धर्म की कई शाखाएं, प्रशाखाएं, कालांतर में आचार्यों के मतानुरूप बनीं । इनमें दो प्रमुख शाखाएं थी—हीनयान और महायान ।

हीनयान

बौद्ध धर्म की प्राचीन शाखा हीनयान है । हीनयान मत के अनुसार दुनिया में

सब कुछ क्षणिक है, 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' जिसे हम शाश्वत समझते हैं, जैसे देश, काल निर्वाण आदि वे सब नाकारात्मक नाम ही हैं। सभी व्यक्ति वास्तव में क्षणिक हैं, धर्मों से युक्त हैं। इसलिए न कोई विचारक है न कोई विचार। सभी के अस्तित्व का एकमात्र लक्ष्य निर्वाण है, जिसमें चेतना भी नहीं रहती। चेतना वास्तव में किसी वस्तु को प्राप्त करने की आकांक्षा से प्रेरित रहती है इसलिए उसमें बंधन रहता है। हीनयान इन प्रश्नों को अनाश्यक समझता है। जैसे निर्वाण के बाद क्या रहता है ? अर्हत् का आदर्श हीनयान की विशेषता है जिसमें व्यक्ति प्रयास एवं ध्यान द्वारा निर्वाण प्राप्त करता है। हीनयान स्पष्ट रूप से यह निर्णय नहीं देता कि जैन लोगों ने अर्हत् प्राप्त किया है वे बुद्धत्व भी प्राप्त करेंगे। हीनयान की मान्यता है कि निर्वाण प्राप्ति के लिए किसी बाह्य महान शक्ति के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। बुद्ध हमारे लिए पूज्य हैं क्योंकि उन्होंने जो आत्मा उपदेश धरोहर के रूप में हमें प्रदान किये वह निर्वाण प्राप्ति के लिए पर्याप्त है इसलिए सही अर्थों में परम सत्य प्राप्त करने के लिए बुद्ध प्रचार करते हैं। न तो वे दिव्य हैं न कोई परमात्मा है। उन्होंने केवल मुक्ति के अलौकिक रहस्य को जाना और सारे विश्व को इससे अवगत कराया। बुद्ध तो वास्तव में ज्ञाना संपन्न श्रेष्ठ मानव थे इसलिए बुद्ध की पूजा करना उनका सम्मान करना मात्र है। इसलिए सगुण भक्ति का हीनयान में कोई स्थान नहीं है। हीनयान में मूर्तिपूजा आदि का कोई बिधान नहीं है, इनकी साधना सरल है और सत्कर्मों द्वारा आत्म-संस्कार के माध्यम से व्यक्तिगत निर्वाण प्राप्त करना ही लक्ष्य होता है। इसमें एकांतिक साधना पर बल दिया गया है।

महायान

कनिष्क के राज्य में सर्वप्रथम महायान का प्रचार हुआ, लेकिन उसके मूल सिद्धांतों को बुद्ध के उपदेशों में पाया जाता है। बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त करने के लिए यानों का उल्लेख किया है—अर्हतयान, प्रत्यक्ष बुद्धयान और बुद्धयान। जो अपना निर्वाण चाहते थे वे अर्हत् कहलाते थे और उनकी साधना अर्हतयान के नाम से जानी गयी। जो अपने निर्वाण के साथ-साथ लोककल्याण का कार्य करना चाहते थे उनके मार्ग को प्रत्यक्ष बुद्धयान के नाम से जाना गया। लेकिन जिन्होंने अपने निर्वाण का चिंतन न करते हुए दूसरों के उद्धार करने का मार्ग अपनाया उन्होंने वास्तव में बुद्धयान को स्वीकार किया और वही महायान के नाम से जाना जाता है। महायान ने सर्व प्रथम बोधिसत्व सिद्धांत का प्रयोग किया जिसका अर्थ होता है कि जो बुद्धत्व प्राप्त करने की साधना में संलग्न है लेकिन अभी तक बुद्धत्व प्राप्त नहीं किया, ये सभी बोधिसत्व बुद्ध की आराधना में संलग्न होकर, बुद्ध के भक्त हो गये। इन्होंने बुद्ध को देवता का स्वरूप दिया और यहीं से बुद्ध की मूर्तियों की पूजा का क्रम प्रारम्भ हो गया और विधि मन्त्र आदि का प्रयोग अपनाया गया। महायानी उत्तरोत्तर बुद्ध और बोधिसत्वों की पूजा और भक्ति में विश्वास करने लगे। इन्होंने संस्कृत भाषा का व्यापक रूप से प्रयोग किया। कनिष्क के समय में नागार्जुन ने विशेष रूप से महायान धर्म को प्रचारित किया

कर्म और भक्ति

बुद्ध ने बराबर कहा कि बुद्ध मार्ग दिखाते हैं, मार्ग पर चलना और गन्तव्य तक पहुंचना पथिक का अपना काम है। बुद्ध ने प्रचलित कर्मकांड को छोड़ा, क्योंकि उनके विचार में इसमें भी देवताओं की सहायता पर भरोसा किया जाता है। यह एक प्रकार की पराधीनता ही है। साधक को स्वतन्त्र होकर साधना करनी चाहिए। बुद्ध ने आत्म-निर्भरता का उपदेश दिया। 'आत्मदीपो भवः' महायान ने इसे सुगम बनाने के लिए भक्ति को प्रधानता दी है, यह मार्ग सुलभ होने के कारण व्यापक रूप से अपनाया गया।

अहिंसा और करुणा

बुद्ध ने कर्म को महत्व देते हुए यह भी कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का फल मिलता ही है। बुद्ध ने अहिंसा पर बल दिया। पंचशील में इसका स्थान प्रथम है। संसार में इतना दुःख पड़ा है कि किसी मनुष्य को हिंसा द्वारा इसकी मात्रा बढ़ाने का अधिकार नहीं यह अहिंसा का मूल तत्त्व है। महायान ने अहिंसा के साथ-साथ करुणा को विशिष्ट स्थान दिया। मानवीय संवेदना, उदारता और मित्रता सहिष्णुता करुणा के साथ संलग्न है। इन्हें अपनाने से जीवन उदात्त हो जाता है।

कारण कार्य नियम

कारण-कार्य संबंध हमारे चिंतन के प्रमुख प्रत्यय हैं। इस प्रत्यय में दो निम्न धारणाएं सम्मिलित हैं—

(१) प्रत्येक घटना किसी कारण का कार्य होती है।

(२) यदि कोई कारण एक अवसर पर किसी कार्य को उत्पन्न करता है, तो उसी हालत में, वह सदा उस कार्य को उत्पन्न करेगा। पहली धारणा को कारण-कार्य नियम और दूसरी को एकरूपता का नियम कहते हैं। बुद्ध ने दुःख को व्यापक पाया और इसकी निवृत्ति को अपना लक्ष्य बनाया। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए दुःख के कारण को जानना आवश्यक था। बुद्ध को प्रतीत हुआ कि तृष्णा दुःख का कारण है। यह दुःख और दुःख का कारण बुद्ध के चार आर्य सत्यों में है। दो पहले सत्य हैं, व्यक्ति जीवन से क्यों चिपटा रहता है, इसका कारण तृष्णा है। बुद्ध ने कहा कि इस तृष्णा का कारण अविद्या है, व्यक्ति भूल में समझता है कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है और कल्पित अस्तित्व को बनाये रखने के लिए बेकार यत्न करता रहता है। यदि यह ज्ञान हो जाय कि वह तो सामान्य जीवन का अंश है तो वह अपने यत्न की ओट में छिपे हुए अहंकार को आप ही छोड़ देगा। इससे वह अपने सामान्य व्यक्तित्व के अनुबंध से मुक्त हो जायेगा। व्यक्तित्व की समाप्ति का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण है। इस तरह बुद्ध ने अविद्या में दुःख का कारण देखा। बुद्ध ने कारण कार्य संबंध को अविद्या, तृष्णा दुःख तक सीमित नहीं रखा, अपितु अविद्या और तृष्णा के मध्य में और दुःख के मध्य में और कड़ियों रखकर एक कार्य की दीर्घ शृंखला बना दी। शृंखला की इन कड़ियों को 'निदान' कहते हैं। मूल कारण अविद्या से अन्तिम कार्य दुःख तक बारह निदान है जो निम्न अनुसार हैं—

१. अविद्या २. संखार (प्रवृत्ति) ३. विन्नय (बोध) ४. नाम (रूप) ५. छः इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रियां और मन) ६. संपर्क (विषयों का उपलब्ध ज्ञान) ७. वेदना (अनुभूति) ८. तृष्णा ९. उपादान (ग्रहण, प्राप्ति, पकड़ना) १०. भव (प्रकट होना) ११. जन्म १२. दुःख (जरा, रोग, मृत्यु) ।

कार्य-कारण नियम को नैतिक क्षेत्र में भी स्वीकार किया गया है । जो कुछ व्यक्ति करता है, उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है । कर्म वास्तव में पूरा ही उस समय होता है, जब उसका फल व्यक्त हो जाय । बुद्ध यही कहते थे कि बुद्धों का काम मार्ग प्रदर्शन है, मार्ग पर चलना तो पथिक का काम है । इसका अर्थ यह है कि कोई मनुष्य किसी दूसरे को न क्षमा दे सकता है, न दिला सकता है । उसको अपने कर्मों का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है उसके और कोई विकल्प नहीं है ।

धर्म का स्वरूप

बौद्ध दर्शन में धर्म शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक है । भूत और चित्त के उन सूक्ष्म तत्वों को धर्म कहते हैं जिसके आघात तथा प्रतिघात से समस्त जगत् की स्थिति होती है अर्थात् यह जगत् धर्मों का एक विशिष्ट संघात है । सभी स्वतन्त्र हैं, ये सभी क्षणिक हैं, प्रत्येक क्षण में बदलते रहते हैं । कहा जाता है कि सर्वास्तिवाद में धर्मों की संख्या पचहत्तर है । मन आयतन को छोड़कर प्रथम ग्यारह आयतनों में प्रत्येक में एक-एक धर्म है और मन आयतन में चौसठ धर्म हैं, इसलिए मन आयतन को धर्मायतन कहते हैं ।

जगत का विषयगत विभाग

विषयगत-दृष्टि से जगत् के धर्म दो भागों में विभक्त किये जाते हैं— असंस्कृत धर्म तथा संस्कृत धर्म । बौद्ध दर्शन में संस्कृत तथा असंस्कृत शब्दों का अर्थ विशिष्ट रूप से किया जाता है । असंस्कृत शब्द का अर्थ है—नित्य, स्थायी, शुद्ध तथा किसी हेतु या कारण की सहायता से जो उत्पन्न न हो । असंस्कृत धर्म किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए संघटित नहीं होते । इसके विपरीत संस्कृत धर्म होते हैं जो हेतु विशेष के द्वारा वस्तुओं के संघटन से उत्पन्न होते हैं । संस्कृत धर्म अनित्य, अस्थायी तथा मलिन होते हैं ।

प्रत्यक्ष ज्ञान

कल्पना तथा भ्रांति से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है । इसके चार प्रकार हैं—

१. इन्द्रिय ज्ञान २. मनोविज्ञान ३. आत्मसंवेदन ४. योगिज्ञान ।

१. इन्द्रिय ज्ञान—इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न ज्ञान ।

२. मनोविज्ञान—इन्द्रियों के द्वारा जब पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न होने पर जिन विचारों का निर्माण होता है इसे मनोविज्ञान कहते हैं । इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का ज्ञान मन में उत्पन्न होता है, जब यह ज्ञान विचारों में परिवर्तित होता है तब वह विज्ञान या विशिष्ट ज्ञान बन जाता है, यही मनोविज्ञान है ।

३. आत्मसंवेदन—सुख-दुःख का अपने स्वरूप में प्रकट होना ही आत्मसंवेदन

कहलाता है ।

४. योगिविज्ञान—ज्ञान चार प्रमाणों अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुमान ज्ञान, उपमान ज्ञान (तुलनात्मक ज्ञान) एवं शब्द ज्ञान (मनीषियों द्वारा निर्दिष्ट) से जो परम ज्ञान प्राप्त होता है उसे योगिज्ञान कहते हैं । परंतु बौद्ध धर्म शब्द प्रमाण को स्वीकृति नहीं देता । इसलिए उपरोक्त तीन ज्ञान प्रमाणों के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त होता है वही योगिज्ञान है ।

स्कंध

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—ये पांच स्कंध हैं । रूप-स्कंध जगत् के समस्त भूत एवं भौतिक पदार्थों के अर्थ में दर्शन में प्रयोग किया गया है । वास्तविक रूप में रूप का प्रयोग स्थूल जड़ भूतों के लिए होता है, जिससे जीव का स्थूल शरीर बनता है । वेदना आदि शेष चार स्कंधों का मन तथा मानसिक वृत्तियों के लिए प्रयोग किया जाता है । इन्हीं पांच स्कंधों से व्यक्तित्व का निर्माण होता है और पांचों स्कंध अन्ततोगत्वा निर्वाण प्राप्ति के साधन बन जाते हैं ।

बौद्ध साहित्य

बौद्ध धर्म में नीति के प्रचारार्थ विपुल साहित्य की रचना हुई है, इनमें कुछ प्रमुख कृतियों का उल्लेख किया जा रहा है जो त्रिपिटक के नाम से विख्यात है । बुद्ध के शिष्यों ने उनके वचनों को तीन भागों में विभक्त किया । विनयपिटक, सुत्तपिटक, अभिधम्मपिटक ।

विनयपिटक—इसमें आचार-विचार के नियमों का वर्णन है, इसी के आधार पर संघ के सभी भिक्षु एवं भिक्षुणी, प्रतिदिन कार्य करते थे ।

सुत्तपिटक—इसमें 'धम्म' के संबंध में समय-समय पर बुद्ध ने उपदेश दिये थे एवं दृष्टान्तों के द्वारा लोगों को समझाया था उनका संग्रह है जो 'निकाय' के नाम से प्रसिद्ध है ।

अभिधम्मपिटक—इस पिटक में आध्यात्मिक दृष्टि के द्वारा बुद्ध के वचनों के आधार पर विवेचन पूर्ण दार्शनिक विचार का प्रतिपादन हुआ । बौद्ध दर्शन के लिए इन ग्रंथों का अध्ययन बहुत ही आवश्यक है ।

बौद्ध सिद्धांत के विभिन्न मत

वैभाषिक मत—

इसके सिद्धांतों को ग्रन्थ बद्ध करने का प्रथम प्रयत्न बुद्ध-निर्वाण के तीन सौ वर्ष पश्चात् कात्यायनी-पुत्र ने किया । उन्होंने ज्ञानप्रस्थान शास्त्र नाम का एक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखा । यह संग्रहरूप ग्रन्थ छः भागों में है जिसमें तत्त्वों का बहुत विस्तृत विचार है । इसी से यह मत वैभाषिक कहा जाने लगा । वैभाषिक मत के अनुसार जो कुछ प्रत्यक्ष है वह ज्ञाता और अर्थ (ज्ञान विषय) के स्पष्ट संपर्क का परिणाम है । वे ज्ञान (मन) और ज्ञेय (जगत्) दोनों की सत्ता को मानते थे । अस्थिरता उनमें पायी जाती है जो प्रकट या व्यक्त है उसका आधार किसी स्थिर पर निर्भर रहता है । प्रत्येक

प्रकटन व्यक्त होता है, कुछ समय के लिए स्थिर रहता है, क्षय होता है और विनष्ट हो जाता है। प्रकटनों का आलंबन कायम रहता है। सारे बाह्य पदार्थ परमाणुओं के संयोग का परिणाम हैं, स्वयं परमाणु मिश्रित नहीं। वैभाषिक पृथिवी, जल, वायु, चार प्रकार के परमाणुओं को स्वीकार करते थे। आकाश को तत्त्व रूप से वे नहीं मानते थे। वैभाषिक इतना ही नहीं मानते थे कि ज्ञाता को उसका स्पष्ट ज्ञान होता है।

जगत का विषयगत विभाग—

इस मत में तत्त्वों का विचार दो दृष्टि से किया जाता है—विषयगत तथा विषयिगत। विषयिगत की दृष्टि से समस्त जगत् तीन भागों में विभक्त किया जाता है—स्कंध, आयतन और धातु।

सौत्रांतिक मत—

साधक जब अन्तर्जगत की ओर जाता है, तो उसे चित्त और उससे संबंधित विषयों में विशेष आनन्द मिलता है। उस संबंध में विशेष अनुभव प्राप्त करने से यह ज्ञान भान होने लगता है कि वास्तव में चित्त का बाह्य जगत् की अपेक्षा अन्तर्जगत् से विशेष संबंध है। अतएव साधक अन्तर्जगत् को अधिक महत्त्व देता है। साधक ज्ञान के इतने उच्चे स्तर तक नहीं पहुँच सकता जिसके कारण वह बाह्य जगत् से अपना संबंध संबंधा छुड़ा सके।

तत्त्वविचार—

सौत्रांतिक मत के अनुसार दीपक के निर्वाण के समान ही यह निर्वाण है। इस पद परपहुँच कर साधक के मन में न कोई क्लेश है और न कोई नवीन धर्म की प्राप्ति ही। दीपक के समान ज्ञान अपने को आप ही प्रकाशित करता है। यह अपने प्रामाण्य के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। ये स्वतः प्रामाण्यवादी हैं इनके मत में निरवयव होते हैं। अतएव इनके एकत्र संघटित होने पर भी ये परस्पर संयुक्त नहीं होते और न इसका परिणाम ही बढ़ता है। इनमें अणुत्व ही रहता है। किसी वस्तु का नाश किसी कारण से नहीं होता। वस्तु स्वतः ही विनाश हो जाता है।

चार ब्रह्म विहार—

ब्रह्म विहार चार हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा। मैत्री का अर्थ है अद्वेष, मैत्री भावना करते समय द्वेष या लोभ रूपी शत्रुओं से बचकर रहना आवश्यक है। करुणा जीव ही हैं बल्कि वे सुखी जीव भी हैं, जो दुश्चरित हैं और जिनका अधोगति में जाना सुरक्षित है। मुदिता भावना के आलंबन सुखी जीव हैं। उपेक्षा में मध्यस्थ भाव से चित्त को भावित किया जाता है। सभी जीव अपने कर्म के घनी हैं, सब अपने कर्म के अनुसार फल भोगते हैं, इस प्रकार का विचार उपेक्षा है।

अव्याकृत या अनावश्यक प्रश्न—

बुद्ध के चिंतन में चौदह प्रश्न ऐसे हैं जिन्हें 'अव्याकृत' की संज्ञा दी गई है। अनावश्यक का अर्थ है—कथन के अयोग्य—इन प्रश्नों पर चर्चा करना आवश्यक है—

विभाग १ अ—क्या यह लोक शाश्वत है ?

ब—क्या यह लोक अशाश्वत है ?

स—क्या यह लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों हैं ?

द—क्या यह लोक न शाश्वत न अशाश्वत है ?

विभाग—२ अ—क्या यह लोक अन्तवान है ?

ब—क्या यह लोक अन् अन्तवान है ।

स—क्या यह अन्तवान एवं अन् अन्तवान दोनों हैं ?

द—क्या यह लोक न अन्तवान है न अन् अन्तवान है ?

विभाग—३ अ—क्या तथागत मृत्यु के पश्चात् रहते हैं ?

ब—क्या तथागत मृत्यु के पश्चात् नहीं रहते हैं ?

स—क्या तथागत मृत्यु के पश्चात् रहते हैं, यह भी नहीं है, नहीं रहते हैं, यह भी नहीं है ?

विभाग—४ अ—क्या जीव शरीर से अभिन्न है ।

ब—क्या जीव शरीर से भिन्न है ?

शून्यवाद

बौद्ध दर्शन माध्यमिक मत में अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता है । निर्वाण के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हमें इसी स्तर पर पहुँचने से होता है । भारतीय परम्परा में मोक्ष को चतुर्थ पुरुषार्थ माना गया है । निर्वाण के संबंध में यह विचारणीय है कि मूलतः निर्वाण और मोक्ष में आचार्यों ने साम्य बताया है । यहीं परम शांति मिलती है तथा दुःख की आत्यान्तिकी निवृत्ति होती है । बुद्ध के उपदेश का परम लक्ष्य इसी स्तर की प्राप्ति रही है । तत्त्व-दृष्टि से न तो बाह्य सत्ता है और न अन्तःसत्ता ही है । सभी शून्य के गर्भ में विलीन हो जाते हैं । यह न सत् है और न सत् से अलग है । वस्तुतः यह 'अलक्षण' है । विज्ञानवाद यद्यपि एकमात्र 'चित्त' को ही परमतत्त्व मानता है तथापि विचार करने से यह स्पष्ट है कि यह द्वैत का प्रतिपादन करता है । अभेद का स्वरूप विज्ञानवाद में तत्त्वदृष्टि से नहीं मिलता और जब तक अद्वैत-तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती तब तक साधक की जिज्ञासा की निवृत्ति नहीं हो सकती ।

यह अद्वैतवाद शून्यवाद में प्रतिपादन किया गया है । इस मत में शून्य ही एकमात्र तत्त्व है । न सत् है, न असत्, न सत् और न असत् दोनों हैं, न दोनों से भिन्न ही है । इस प्रकार इन चारों सम्भावित कोटियों से विलक्षण ही एक तत्त्व है, जिसे माध्यमिकों ने अपना परमतत्त्व कहा है । इसीलिए तो इस तत्त्व को अलक्षण कहा है ।

बुद्ध ने अपने जीवन में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया था न तो वे तपस्वी होकर जंगल ही में अपने जीवन का अन्त करना चाहते थे और न संसारी होकर ही रहना पसन्द करते थे । उन्होंने ज्ञान प्राप्त कर संसार के कल्याण के लिए अपना जीवन लगाया । इसलिए मध्यम मार्ग का अनुसरण करना उन्होंने अपने जीवन का चरम लक्ष्य बनाया । अतएव यह मत माध्यमिक नाम से है । शून्यवाद में बुद्ध के द्वारा कहे गये चरम लक्ष्य की प्राप्ति होती है । शून्य ही को इस मत में परम तत्त्व माना गया है इस-

लिए इसे शून्यवाद भी कहते हैं ।

त्रिरत्न

बुद्ध दर्शन में तीन साधन हैं—शील, समाधि तथा प्रज्ञा । इन्हीं को त्रिरत्न कहा जाता है ।

(क) शील से समस्त सात्त्विक कर्मों का तात्पर्य है । भिक्षु तथा गृहस्थ दोनों के लिये कतिपय साधारण शील हैं, जिनका पालन करना प्रत्येक बौद्ध का कर्तव्य है । अहिंसा, अस्तेय, सत्य, भाषण, ब्रह्मचर्य और नशा सेवन न करना—ये पंचशील कहे जाते हैं ।

किंतु भिक्षुओं के लिये अन्य पांच शीलों (दस शीलों) का भी उपदेश है । अपराह्न भोजन, माला धारण, संगीत सुवर्ण-रजत तथा महार्थ शय्या का त्याग ।

(ख) समाधि से तीन प्रकार की बिज्जायें उत्पन्न होती हैं—पूर्व जन्म की स्मृति, जीव की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान तथा चित्त के बाधक विषयों की जानकारी ।

(ग) प्रज्ञा तीन प्रकार की है श्रुतमयी आप्त प्रमाण जन्य निश्चय । चिन्तामयी युक्ति से उत्पन्न निश्चय भावनामयी—समाधि जन्य निश्चय । शील सम्पन्न, श्रुत-चित्त-प्रज्ञा से युक्त पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी है ।

प्रज्ञा के अनुष्ठान से ज्ञान दर्शन, मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियां, दिव्य क्षेत्र, पर चित्तज्ञान, पूर्व जन्म स्मरण, दिव्य चक्षु की उपलब्धि होती है, इससे दुःख क्षय का ज्ञान हो जाता है । साधक निर्वाण प्राप्त कर लेता है । बुद्ध की शिक्षाओं का सारांश शील, समाधि तथा प्रज्ञा इन तीन शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है ।

समाधि की आवश्यकता

स्वानुभूति के द्वारा ही पारमार्थिक सत्य का ज्ञान हो सकता है । इसके लिए शमथ अर्थात् चित्त की एकाग्रता-रूप समाधि की आवश्यकता है । इस समाधि के अभ्यास से प्रज्ञा का उदय होता है और उसी से उसे परम तत्त्व की अनुभूति होती है । समाधि के लिए वैराग्य अपेक्षित है । दान, शील, शांति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा इन छः पारमिताओं का ज्ञान तथा अभ्यास करना चाहिए ।

बुद्धत्व प्राप्त करने का आदर्श प्राचीन समय में भी था । किंतु जनता के लिए बुद्ध होना संभव नहीं था । परंतु अर्हत्-पद से ऊपर उठकर निर्वाण लाभ करना अर्थात् दुःख से मुक्त होना सभी का लक्ष्य था । जब अपना दुःख और दूसरे का दुःख समान प्रतीत होता है और अपनी सत्ता का बोध विश्वव्यापी हो जाता है, जब समस्त विश्व में अपनत्व आ जाता है, उस समय सबकी दुःख निवृत्ति, अपने दुःख की निवृत्ति में परिणत हो जाती है । वासना मुक्त होने मात्र से निर्वाण प्राप्त नहीं होता है । साधक को बोधिसत्त्व अवस्था में होकर क्रमशः उच्चतर भूमियों में प्रसार करने से महानिर्वाण प्राप्त होता है । साधक तथा योगी के जीवन में गुणों के साथ करुणा का विकास भी इतना ही आवश्यक है । जगत् के सभी घर्मों में करुणा का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया । बौद्ध योगियों के आध्यात्मिक जीवन में करुणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है, अनांग्रज कहते हैं कि करुणावान् कभी भी किसी को निराश नहीं करते—

‘सत्वानामस्ति नास्तीति न चैतं सविकल्पकम्’

मनोरथनदि ने प्रमाणवार्तिक की वृत्ति में कहा है—

दुःखाद् दुःखहेतोश्च समुद्धरणकमता कर्षणा’

दुःख का ज्ञान होने पर पूर्व संस्कार के प्रभाव से दया स्वभावतः ही उत्पन्न होती है। पूर्व संस्कार का अर्थ है जन्मजात संस्कारों के अनुरूप प्रवृत्ति। महापुरुषों के सम्मुख दुःख होते ही दया उत्पन्न हो जाती है। सब दुःखों का मूल कारण मोह है। बौद्ध मत में सत्वाग्रह या आत्मग्रह ही मोह का मूल है, जब इसका उन्मूलन हो जाता है तो किसी के प्रति द्वेष नहीं रहता। धर्मकीर्ति ने कहा है—

‘दुःखसन्तानसंस्पर्शमात्रेणैव दयोदयः’

प्राचीन बौद्ध धर्म के मुमुक्षुओं में तीन आदर्श प्रधानरूप से प्रचलित थे—क्षावक, प्रत्येक बृद्ध और सम्यक् संबुद्ध। श्रावक दुःख निवृत्ति के मार्ग से परिचित थे। यह मार्ग बोधि अविध ज्ञान है। चार आर्य सत्यों में यह मार्ग सत्य है। बोधि या ज्ञान उन्हें स्वतः प्राप्त नहीं होता था। उसके उदय के लिए बुद्धादि महापुरुषों के उपदेश से होता है। इसलिए इसे औपदेशिक ज्ञान कहते हैं लेकिन उपदेश मात्र पर्याप्त नहीं है। उपदेशों को साधना द्वारा चरितार्थ करने से जो भगवत्ता प्राप्त होती है। इस साधना का अंग है पारमिता, दान, शील, शांति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा। इसी से महाबोधि की उपलब्धि होती है, इसे प्राप्त करने पर बुद्धत्व और भगवत्ता एक एवं अभिन्न हो जाते हैं। यह मानव जीवन का उच्चतम आदर्श या अन्तिम लक्ष्य है। यह बौद्ध धर्म और सनातन धर्म का मिलन बिंदु है दोनों का अन्तिम ध्येय एक होने के कारण उनका एकत्व स्थापित हो जाता है। बुद्ध को विष्णु का अवतार मानने से बुद्ध और विष्णु एक हो जाते हैं। विचारों में भिन्नता प्रतीत होते हुए भी तास्विक एकता निष्पन्न हो जाती है। जयदेव के दशावतार स्तोत्र में बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया है एवं इसी समय के शिल्प में बुद्ध के चार हाथों की प्रतिमा मिलती है। भारतीय जन जीवन एवं धार्मिक भावनाओं पर बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव पड़ा। ऐसे तो सभी धर्मों में अहिंसा, कर्षणा एवं मैत्री को प्रमुखता दी गई है। ये भावनाएं ही मानवीय संवेदन और नैतिकता एवं आध्यात्मिकता से गहरा संबंध रखती हैं। लेकिन बुद्ध ने अपने जीवन के माध्यम से इन सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार के लिए अपना समस्त जीवन समर्पित कर दिया। इसका सीधा प्रभाव यज्ञ संस्थानों पर पड़ा। यज्ञ में होती हुई पशु बलि बंद प्रायः होने लगी। इसके साथ-साथ यज्ञ द्वारा स्वर्ग कामना एवं देवताओं पर लोगों के निर्भर होने की भावना के विश्वास में क्षीणता आ गई। लोगों के मन में आत्म विश्वास जगने लगा। बुद्ध की वाणी ‘आत्मदीपो भव’ प्रकाश के लिए तुम स्वयं अपना दीपक बनने की विचारधारा ने नई ऊर्जा एवं प्रेरणा प्रदान की। सैद्धांतिक रूप से वैदिक एवं उपनिषदों में प्रतिपादित धर्म, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, इंद्रिय-निग्रह आदि नीति धर्म समान रूप से ‘धम्मपद’ में पाए जाते हैं। लेकिन एक ऐसा समय था जब वैदिक धर्म संकुचित संप्रदाय बनता जा रहा था—जहां वर्णाश्रम का विभाजन गुण-कर्म पर आधारित न होकर बंशानुक्रम से अपनाये जाने लगा इससे छुआछूत, जात-

पांत के कारण समाज में विषम परिस्थिति बनने लगी। इन सब दोषों को मिटाने के लिए अहिंसा, करुणा और दया के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म की लोकप्रियता बढ़ने लगी और मौर्य काल में सम्राट अशोक के समय वह राज धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। सम्राट अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को बुद्ध वृक्ष के पौधे को लेकर लंका में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ भेजा। लंका का राजा उनसे बहुत प्रभावित हुआ और उसने भी बौद्ध धर्म को राज धर्म के रूप में स्वीकार किया। बौद्ध धर्म के अनुयायियों की निरंतर वृद्धि होती गई। भारत में चित्रकला, शिल्प एवं साहित्य पर इसका गहरा प्रभाव परिलक्षित है। अजन्ता, एलोरा एवं बाघ की गुफाओं में अमूल्य दीवारों पर चित्र अंकित हैं। स्तूप एवं मंदिरों में अत्यन्त प्रभावशाली मूर्तियां दृष्टिगत होती हैं। बौद्ध साहित्य का परवर्ती साहित्य पर गहरा प्रभाव जो आज तक के साहित्य में परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त बाहरी देशों में भी जहाँ-जहाँ बुद्ध का उपदेश पहुँचा वहाँ वह श्रद्धा से अपनाया गया और बौद्ध धर्म समस्त विश्व में अग्रसर होता गया।

बौद्ध धर्म का दक्षिण पूर्व एशिया में व्यापक रूप से प्रचार हुआ। प्रथम भारतीय बौद्ध इंडोनेशिया में प्रथम से द्वितीय शती के मध्य पहुँचा था और उसने हीनयान धर्म का प्रचार किया। धीरे धीरे आठवीं शती तक महायान धर्म को व्यापक रूप में अपनाया जाने लगा। इंडोनेशिया से थाईलैंड, जावा, सुमात्रा, बोरोनियों इत्यादि द्वीपों में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार होने लगा। इंडोनेशिया से बौद्ध धर्म, चीन की ओर अग्रसर हुआ। चीन में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता निरंतर बढ़ती गयी और बहुत तीर्थ यात्री इंडोनेशिया होते हुए भारत की ओर आने लगे। बहुत से यात्री इंडोनेशिया में रुक जाते थे और कई दिन वहाँ ठहकर बौद्ध धर्म की शिक्षा प्राप्त करते थे। चीन के विख्यात संत फाहियान एक समुद्री तूफान में फँस गये थे और १४४ ए० डी० में जावा द्वीप में पहुँच गये। वे वहाँ पर पाँच माह तक रहे उसके पश्चात् भारत के लिए प्रस्थान किया। उन्होंने भारत में बौद्ध तीर्थों का भ्रमण किया और कई बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जो लौटते समय अपने साथ ले गये। चीन के प्रख्यात दार्शनिक ह्वेनसांग ने १४ वर्ष तक भारत में परिभ्रमण किया और अनेक बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इस प्रकार सारे एशिया दक्षिण पूर्व एशियाई स्थलों पर बौद्ध यात्रियों का भारत निरंतर आना जाना लगा रहा था। थाईलैंड, जावा एवं अन्य प्रदेशों में बने हुए मन्दिर एवं पगोडे स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। बौद्ध धर्म का प्रभाव चीन से आगे बढ़ते हुए कोरिया और जापान तक पहुँच गया और जापान में शिंटो धर्म पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव समीपवर्ती रूस में भी देखा जा सकता है। बौद्ध धर्म का प्रभाव मात्र दक्षिण पूर्व एशिया तक सीमित न रहकर मध्य एशिया में भी पाया जाता है। यहाँ से तुर्किस्थान होते हुए रूस तक पहुँचा। वहाँ उत्खनन में आज भी बुद्ध की मूर्तियां प्राप्त होती हैं। पश्चिम में यूनान सीरिया एवं मिश्र तक बौद्ध धर्म का प्रभाव पाया जाता है। बौद्ध धर्म का वैश्विक भावना वास्तव ने सारे विश्व में मानव बन्धुत्व की चेतना को उजागर करने में विपुल

सफलता प्राप्त की है । आज भी बुद्ध एवं बौद्ध धर्म सारे विश्व में समाहित है और बड़े स्नेह से इसका अध्ययन होता है । □

—श्री माधोदास मूँघड़ा
सेठ गिरुधरदास मूँघड़ा
रतनबिहारी पार्क, बीकानेर

संगीत का प्राणतत्त्व स्वर-स्थापना तथा स्वर-संवाद

जयचंद शर्मा

भारतीय शास्त्रीय संगीत में श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना एवं राग-रागनी का विशेष महत्त्व है। स्वर-स्थापना और स्वर-संवाद उसका मूल तत्त्व है। पंडित विष्णु नारायण भारतखण्डे जी ने उसे छोड़कर थाट प्रणाली के अनुसार राग-रागनियों को दस थाटों में वर्गीकृत किया है। उनका प्रयास सराहनीय है किन्तु भारतीय संगीत के मूल तत्त्व को बनाए रखना भी आवश्यक है।

थाट प्रणाली की अपनी विशेषता है किन्तु सात स्वरों के थाट में ९ स्वरों वाले राग उत्पन्न करने पर विद्रूपता ही बढ़ेगी। रागों के वादी-संवादी स्वरूप में भी थाट प्रणाली से मुश्किलें दर पेश होंगी।

एक तरफ पुरुष और स्त्री, पुत्र, पुत्र-वधु, श्रुत्यंतर, ग्राम, मूर्च्छना आदि साहित्य है तो दूसरी ओर उक्त प्रणाली के विपरीत थाट-प्रणाली का साहित्य है। संगीत के प्राचीन साहित्य से आज का संगीतज्ञ बहुत दूर हो गया है। यहां तक कि वह राग गाने, बजाने के समय-निर्धारण को भी बेकार मानता है।

स्वतन्त्रता से पूर्व का युग महफिल, मुजरों का था। महफिलों की शोभा बढ़ाने के लिए अधिकतर गणिकाओं को आमंत्रित किया जाता था। उनकी स्वर-संगत सारंगी-बादक तथा ताल-संगत तबला वादक करते थे। महफिलें रातभर जमतीं। अनेक राग-रागनियों को सुनने वाले रसिक जन अपने मनपसन्द की बंदिशें सुनने की फरमाईशें करते। रागों में प्रयुक्त होने वाले कोमल, तीव्र स्वरों को सारंगीवादक को दरसाना होता। इसके लिए वह तारों एवं तरंगों को इस प्रकार मिलाता कि रात्रि में गाई जाने वाली समस्त राग-रागनियां उस मिलान में बज जाएं। क्योंकि महफिल में प्रत्येक राग के लिए बार-बार सारंगी के तार मिलाना सम्भव नहीं था। इसी मिलान की क्रिया को उस्तादों ने थाट नाम से संबोधित किया, जो किसी न किसी राग के पर नाम से पहिचाने जाते थे। अतः थाट-प्रणाली भरतखण्डे युग के पूर्व से प्रचलित थी।

भरतखण्डेजी ने दक्षिण भारत के संगीतज्ञ पं० व्यंकटमखी द्वारा निर्धारित ७२ थाटों को आधार मानकर उनमें से दस थाटों का चयन किया और उत्तर भारत में प्रचलित राग-रागनियों को उनमें ढाल दिया। उन्होंने थाट संबंधी कुछ नियम भी बनाये। जैसे—“थाट में क्रमानुसार सात स्वर होने आवश्यक हैं।”

थाट संबंधी उपर्युक्त नियम पर विचार करते हैं, तो शंका उत्पन्न होती है कि सात स्वरों के थाट द्वारा आठ और नौ-स्वर वाले राग कैसे उत्पन्न हो गए, जबकि वे स्वर उक्त थाट में ही नहीं।

तुलसी प्रज्ञा, लाडनू : खंड २३, अंक ४

खमाज थाट में नि कोमल और शेष स्वर शुद्ध हैं। इस थाट से उत्पन्न होने वाले राग-खमाज, देश, सोरठ आदि के आरोह में शुद्ध निषाद का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार कल्याण से राग, केदार, हमीर आदि ९ स्वरों वाले रागों की उत्पत्ति भी विचारणीय है। इन रागों में दूसरे थाटों की भ्रूलक भी दृष्टिगोचर होती हैं ?

रागों के वादी संवादी

राग के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए वादी-संवादी स्वरों का सर्वाधिक महत्त्व है। वादी स्वर को राजा एवं संवादी स्वर को मंत्री कहा गया है। इन दोनों स्वरों का संवाद ९ श्रुत्यांतर मध्यम भाव और १३ श्रुत्यांतर पंचम भावानुसार रागों का स्वरूप प्रकट किया जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने कम्पन संख्या के आधार पर ५ मध्यम भाव और ३ पंचम भाव निर्धारित किये हैं। इस सिद्धांत को भरत खण्डेजी ने भी स्वीकार किया है।

उपर्युक्त सिद्धांतानुसार यहां भरतखण्डेजी के प्रथम थाट विलावल द्वारा उत्पन्न होने वाले ध-वादी और ग-संवादी वाले श्रुत्यांतर पर विचार करते हैं—

विलावल थाट, सभी स्वर शुद्ध श्रुत्यांतरानुसार स्वरों का क्रम—
सा ४ रे ३ ग २ म ४ ध ३ नि २ = २२ ।

मध्यम भाव ९ श्रुत्यांतर :—

ग २ म ४ प ४ ध = १० श्रुत्यांतर है ।

पंचम भाव १३ श्रुत्यांतर :—

ग २ म ४ प ४ ध ३ नि = १३ श्रुत्यांतर निषाद है ।

उपर्युक्त श्रुत्यांतर में ग और ध का संवाद नहीं बनता है। अब ध और ग के संवादात्मक स्वरूप पर विचार करते हैं। मध्यमभाव—ध ३ नि २ सा ४ रे = ध, स्वर ९ व्युत्यांतर पर रे को संवाद कर रहा है।

९ श्रुत्यांतर

पंचम भाव :—ध ३ नि २ सा ४ रे ३ ग = १२

१३ श्रुत्यांतर पंचम भाव में ध से ग १२ श्रुत्यांतर पर है अतः भरतखण्डेजी द्वारा ध और ग अथवा ग और ध संवाद वाले समस्त राग चाहे वे किसी भी थाट में हों वे वादी-संवादी की दृष्टि से गलत हैं।

शुद्ध एवं विकृत स्वर—भारतीय स्वर-सप्तक की स्थापना प्राचीन विद्वानों ने २३ श्रुतियों को आधार मानकर निम्न प्रकार से की है—

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः ।

द्वै निषादगांधारी त्रिस्त्रि ऋषभधैवतौ ॥

अर्थात्—सा, म, प की चार, चार, ग, नि स्वरों की दो-दो और रे, ध की तीन-तीन श्रुतियां हैं।

इसी सिद्धान्त के अनुसार भरतखण्डेजी कोमल, तीव्र एवं शुद्ध कुल १२ स्वरों की स्थापना निम्न प्रकार से करते हैं—

क्र. सं.	श्रुति संख्या	श्रुति नाम	स्वर	शुद्ध, विकृत
१.	१	तीव्रा	सा	अचल शुद्ध
२.	२	मृद्धली	रे	कोमल
३.	५	दयावती	रे	शुद्ध
४.	१०	रक्तिका	गं	कोमल
५.	८	रोद्री	गं	शुद्ध
६.	१०	वज्रिका	म	शुद्ध
७.	१२	प्रीति	म	तीव्र
८.	१४	क्षिति	प	अचल शुद्ध
९.	१६	संदीपिनी	घ	कोमल
१०.	१८	मदंती	घ	शुद्ध
११.	२०	रम्या	नि	कोमल
१२.	२१	उग्रा	नि	शुद्धा

भारतीय संगीत शास्त्रानुसार एक श्रुत्यांतर पर स्वर नहीं होता है, जब कि भरतखण्डेजी ने सा और रे, कोमल ग और शुद्ध ग कोमल घ और शुद्ध घ तथा कोमल नि और शुद्ध नि को एक-एक श्रुत्यांतर पर माना है। हम उनके इस सिद्धांत को स्वीकार कर लेते हैं पर कोमल रि ष भ वाले सभी रागों के रे एक श्रुति अर्थात् अति कोमल हैं। इसी प्रकार कोमल नि और शुद्ध नि वाले राग जो विभिन्न थाटों के जन्य राग हैं एक-एक श्रुत्यांतर के हैं। अगर ऐसा है तो प्राचीन श्रुत्यांतर, ग्राम, मूर्च्छना आदि सिद्धांत उन विद्वानों की एक बकवास के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी।

यह एक ऐसा विषय है जिस पर संगीत विद्वानों को गहराई से विचार कर निर्णय करना है। पूना निवासी पण्डित फिरोज फ़ामजी संगीत शास्त्री ने श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना के आधार पर जनक थाट केदार (९ स्वर) के माध्यम से आठ और सात स्वरों के जन्य थाटों की उत्पत्ति द्वारा रागों की उत्पत्ति की है, वह प्रणाली प्राचीन और अर्वाचीन सिद्धांतों के अनुरूप स्वीकार करने योग्य है। भावी पीढ़ी के हितों को ध्यान में रखते हुए संगीत विद्वान सही मार्ग को अपना सके तो शास्त्रीय संगीत का सही स्वरूप सुरक्षित रह सकेगा।

—डा० जयचंद शर्मा

निदेशक, श्री संगीत भारती

शोध विभाग, बीकानेर-३३४००१

अस्तित्ववाद

❑ वीरबाला छाजेड़

मानव जब से इस संसार में आया है, तब से ही वह अपने अस्तित्व को लेकर चिंतित रहा है, उसे सदा यह कौतुहल बना रहा है कि वह क्या है ? कौन है ? कहां से आया है ? कहां जायेगा ? सभ्यता और संस्कृति के विकसित होने के साथ ही साथ इस कौतुहल ने एक जिज्ञासा का रूप ले लिया । आज यह प्रश्न दर्शन का मुख्य विषय बना हुआ है । मानवीय अस्तित्व को लेकर दर्शन शास्त्र में आरम्भ से चर्चाएं होती रही हैं । प्रत्येक दार्शनिक ने इसका अपने-अपने ढंग से विवेचन किया है और आज यह मानवीय अस्तित्व हमारे सामने दर्शन के एक पक्ष "अस्तित्ववाद" के रूप में प्रस्तुत है । फिर भी पाषाण युग से लेकर आज के इस वैज्ञानिक युग में भी यह प्रश्न हमारे सामने वैसा ही है कि हम वास्तव में क्या हैं ? क्या आज इतनी प्रगति के बाद भी हम अपने सही अस्तित्व को जान पाये हैं और क्या हम इसे सही रूप में जान सकते हैं ?

अस्तित्ववाद का जन्म हेगल के निरक्षेप अध्यात्मवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ । हेगल का दर्शन समूहगत "हम" का रूप स्थापित करता है । "मैं" की इसमें कोई सत्ता नहीं । दूसरा आरोप हेगल अस्तित्ववाद के दर्शन के विरुद्ध लगाते हैं कि उसमें प्रतिबद्धता नहीं है, उसमें जीवन नहीं है । यह सब कहा जाता है क्योंकि वैचारिक दर्शन ने मनुष्य को उसके अस्तित्व से दूर कर दिया और इसी कारण अस्तित्ववाद हमारा ध्यान आधुनिक मनुष्य, अस्तित्व से अलगाव और सत्य के साथ उसके संबंध के टूटने की ओर आकर्षित करता है ।

सोरेन किर्केगार्ड अस्तित्ववाद का जनक कहा जाता है । वह एक मसीही अस्तित्ववादी दार्शनिक था जो मनुष्य को महत्व देते हुए वह मनुष्य की पीड़ा को, त्रास को स्वतंत्रता और मृत्यु को महत्व देता है ।

हरिदास चौधरी अस्तित्ववाद के पक्ष में कुछ कारण बताते हैं :—

१. आधुनिक मनुष्य ने सात्विक दृष्टि से सत् के साथ अपने संबंध खो दिये हैं और वह निराशा व शंका के गर्त में गिर गया है ।
२. मनुष्य आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक संस्थाओं द्वारा घेर दिया गया है । वह अपने को इन संस्थाओं की रचनाओं में निःसहाय अनुभव कर कहा है । वह यह नहीं कह सकता कि "मैं हूँ" अपितु इसके बदले में उसे यह कहना पड़ता है "जैसा तुम चाहते हो, मैं वैसा हूँ ।"

सुलसी प्रज्ञा, लाहनुं : खण्ड २३ अंक ४

३. मनुष्य को भौतिकवाद की चकाचौंध ने इतना प्रभावित कर रखा है कि वह जीवन के सर्वोच्च मूल्यों की ओर से उदासीन हो रहा है ।

४. वर्तमान युग विज्ञान का, यंत्रों का, उद्योग का युग है । जिसने मानवजीवन को वैसा ही निर्जीव बना दिया है । औजार बनाने वाला मनुष्य स्वयं औजार बन गया है ।

अस्तित्ववाद सत् से मनुष्य को जोड़ने का ही प्रयास है । कोई पद्धति नहीं है । डा० शिवप्रसाद सिंह ने ठीक ही कहा है कि “यह कोई तयशुदा परिपाटी नहीं है । यह सोचने और विचारने की एक दृष्टि है । यह दृष्टि वस्तुपरक की अपेक्षा आत्मपरक अधिक है ।

अस्तित्ववाद पाश्चात्य जगत् की सर्वोपरि लोकप्रिय दार्शनिक विचारधारा है ।

बहुत से विद्वानों ने अस्तित्ववाद और भारतीय दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया है । जिनमें सर्वप्रथम के. गुरुदत्त है ।

दूसरा प्रयास श्रीनिवासन का है । तीसरा और चौथा कार्य लघुशोध प्रबंध के रूप में विक्रम विश्वविद्यालय में हुआ है । कुमारी स्मिता समर्थ ने “अस्तित्ववाद और भारतीय दर्शन” और कुमारी ममता बिरधरे ने “वेदान्त और सारेन किर्केगार्ड के अस्तित्ववाद का तुलनात्मक अध्ययन” करके आगन्तुक शोधार्थियों के लिये मार्ग प्रशस्त किया है ।

दर्शन की विद्यार्थिनी होने के नाते मेरे मन में भी यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही था कि मैं स्वयं विचार करूँ कि अस्तित्व क्या है ? मैं कौन हूँ ? इस संसार में मेरे जीवन का क्या लक्ष्य है ? क्या वास्तव में हम जो देखते हैं वही सत्य है ? इसी जिज्ञासा ने मेरी रूचि को अस्तित्ववाद की ओर आकृष्ट किया । मैंने अस्तित्ववाद का अध्ययन किया, मुझे यह अनुभव हुआ कि अस्तित्ववाद के विचार बहुत अंशों में जैन दर्शन के अत्यधिक निकट है ।

मनुष्य को सर्वदा व सर्वथा स्वतंत्र मानने वाला सार्त्र भी मनुष्य पर पड़ने वाले वातावरण के प्रभाव से इन्कार नहीं कर सका है । वह भी यह मानता है, कि बाह्य परिस्थितियाँ मनुष्य के उद्देश्य पर प्रभाव डालती हैं । यहाँ पर आचार्य महाप्रज्ञवी भी सार्त्र के विचारों को प्रतिबद्ध करते हुए लिखते हैं “मनुष्य प्रतिक्रिया का जीवन जीता है, क्रिया का नहीं ?”

मनुष्य जीवन में जो सार निर्मित करना पड़ता है वह सार्त्र के तीन सिद्धांतों पर निर्भर है । वह तीनों सिद्धांत मानव जीवन को अर्थ प्रदान करते हैं । इनमें सर्वप्रथम मूल कामना, दूसरा प्रारम्भिक योजना, तीसरा प्रमाणिक अस्तित्व है । मूल कामना के अनुसार मनुष्य में ईश्वर बनने की कामना है मौलिक रूप से ।

मनुष्य की चेतना स्वाभाविक कामना संसार की निरर्थकता को स्वीकार नहीं करती । संसार का परिचय पाते ही उससे अपना आदर्शमय संबंध स्थापित करने का प्रयत्न करती है ।

व्यक्ति जब दुःखों से घबरा कर निराश हो जाता है और त्रास का अनुभव करता है तो माना जाता है कि दर्शन का उदय ही निराश्रय व अकेलेपन से होता है । इस

सफल उदाहरण युद्ध की विभीषिका देखकर अस्तित्ववाद की उत्पत्ति है। प्रकृति के कार्यों में वह जब अपने आपको असमर्थ पाता है तब मनुष्य की यह त्रासित संवेदना उसे अनुभव कराती है कि वह संसार में फँका हुआ है और इसी स्थिति में उसका अपना अस्तित्व उजागर होता है। क्योंकि जन्म उसके चुनाव का विषय नहीं है। उसके लिये निश्चित है, कि एक ना एक दिन उसकी मृत्यु अवश्यभावी है। सार्त्र का त्रास मनुष्य में अकेलेपन से उत्पन्न नहीं होता।

सार्त्र मृत्यु के तथ्य से त्रास को अलग करता है। जीवन से जोड़ता है। “त्रास मनुष्य के नैतिक चुनाव के आधार की स्थिति है।” त्रास आंतरिकता से उत्पन्न होता है। विशेषकर चुनाव की स्थिति में सार्त्र शून्यता के कारण भी त्रास को मानता है। शून्यता का अनुभव सबसे अधिक त्रास में होता है।

सार्त्र के लिये मृत्यु महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है, मृत्यु जीवन को निरर्थक बना देती है। यहां पर सार्त्र के विचारों से असहमति प्रकट करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ की मान्यता यह है कि मृत्यु नवजीवन का नाम है।

सार्त्र मृत्यु को क्या जीवन को ही लक्ष्य रहित मानता है। वह इस प्रकार मनुष्य के पुरुषार्थ को ही बौना बना देता है। सार्त्र त्रास के अंतर्गत बुरे विश्वास को लेता है। बुरा विश्वास केवल अपने तक ही सीमित है, यह झूठ बोलने जैसा नहीं है। उसमें दो व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। परन्तु बुरे विश्वास में मनुष्य स्वयं से ही झूठ बोलता है। वह स्वयं को कटु सत्य से छिपाता है या झूठ को सत्य का रूप देना चाहता है, जो उसे अच्छा लगता है।

बुरे विश्वास का संबंध अपने आपसे होता है वह स्वयं को धोखा देता है। सार्त्र मानता है कि व्यक्ति की चेतना में बुरे विश्वास की संभावना हमेशा बनी रहती है। मनुष्य जो है उससे भिन्न वह बनना चाहता है। वह इन्हीं स्थितियों के बीच झूलता रहता है। वह बुरे विश्वास में फँस जाता है।

सार्त्र यह मानता है कि मृत्यु मानव अस्तित्व की मूर्त्तता व अनिश्चितता को प्रदर्शित करती है और वह प्रदर्शन त्रास के रूप में उभरता है। अतः मनुष्य को या प्रामाणिक अस्तित्व को जानना है तो उसे अपने अस्तित्व को संदिग्धता और मूर्त्तता को मान लेना चाहिए। कोई भी व्यक्ति मृत्यु के बाद का अनुमान नहीं लगा सकता, केवल प्रतीक्षा करता रहता है। उसका कथन है—“यह मेरी संभावना नहीं बल्कि सब संभावनाओं का अन्त है। चेतना सदैव इच्छायुक्त है और मृत्यु सभी इच्छाओं का अन्त है।

मृत्यु जीवन की चरम स्थापना है। स्वतंत्रता के स्तर पर उसे प्रमाणित करने हुए सार्त्र ने ‘बीईज्ज नर्बसनेस’ में कहा है—“इस शरीर की मूलतः आवश्यकता है कि वही चुनाव हो जो मैं तत्काल में रहूँ। इस आशय से मेरी सीमा मेरी स्वतंत्रता को नियंत्रित करती है। मृत्यु न जीवन की संभावना है, न जीवन से परे कि वस्तु, वह उसे जीवन की सीमा मानता है।

सार्त्र के मत में मृत्यु की निरन्तर प्रतीक्षा करना असंभव है। मृत्यु अपने

निषेधात्मक पक्ष में मेरी सभी संभावनाओं का शून्य है। हम न मृत्यु की खोज कर सकते हैं, न ही प्रतीक्षा। जन्म समान मृत्यु भी बाहरी तथ्य है। मृत्यु जीवन का लक्ष्य नहीं, यह तत्त्व की मीमांसीय संरचना का अंश है। न हम इसका अनुभव कर सकते हैं न कल्पना। सार्त्र यह विचार करने पर विवश होता है कि मृत्यु क्या है? अंत में यही निष्कर्ष दे पाता है कि मृत्यु सभी संभावनाओं का विनाश है। यह मानव जीवन को अर्थ प्रदान करने की अपेक्षा उसे निरर्थक बनाती है।

“It is meaningless that we are born. It is meaning less that we die.”

अर्थात् हमारा मरना व जन्म लेना दोनों ही अर्थहीन है।

सार्त्र के स्वतंत्र व्यक्तित्व को परिभाषित करते हुए लेखक लक्ष्मी सक्सेना कहते हैं “सार्त्र उन व्यक्तियों में सा नहीं था, जो किसी भी सीमा में बंधकर जीवन यापन करना सही मानते थे। यह जगत उसकी चेतना के लिये सतत चुनौती है। जिसे वह चाहकर भी सर्वथा आत्मसात् करने में असमर्थ है।

चेतना के स्वतंत्र व्यक्तित्व के साथ संबंध की व्याख्या करते हुए सार्त्र स्पष्ट कहता है कि निषेधात्मक अनुभूतियों के साथ चेतना के अतिक्रमी स्वरूप का हमें स्पष्ट बोध होता है। स्वतंत्रता चेतना की विशेषता नहीं है, वह स्वयं स्वतंत्रता है। अपनी इस स्वतंत्रता का प्रयोग करते हुए वह अपने आपका, अपने संसार का सृजन करती है। जिस प्रकार जैन दर्शन की मान्यता है कि मनुष्य भव में ही जीव अपने कर्मक्षय हेतु पुरुषार्थ करने में समर्थ हैं। उसी प्रकार सार्त्र की धारणा है कि मनुष्य होने में ही उसकी स्वतंत्रता निहित है।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों में सार्त्र ही एक ऐसा दार्शनिक है, जिसने स्वतंत्रता पर अधिक बल दिया है। क्योंकि मनुष्य की मूल प्रकृति स्वतंत्रता है। उसने मनुष्य को इस सीमा तक स्वतंत्रता प्रदान की है कि संसार की कोई शक्ति या परिस्थिति उसकी बाधक नहीं है। वह नैतिक दृष्टि से मनुष्य को ही उत्तरदायी ठहराता है। सार्त्र ने चेतना के कारण ही मनुष्य को स्वतंत्र माना है। मनुष्य की स्वतंत्रता उसकी प्रभुता है। उसने स्वतंत्रता का अध्ययन तीन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया है।

१. व्यक्ति में व्यक्ति को केन्द्र बिन्दु मानकर,
२. व्यक्तियों के पारिवारिक संबंध,
३. परिस्थितियों से संबंधित स्थिति में।

सार्त्र मानवीय स्वतंत्रता के साथ नैतिकता को मानता है। वह भाग्य के ऊपर भरोसा नहीं रखता और न ही भौतिक या पारलौकिक नियतवाद को स्वीकार करता है। अपने नैतिक विचारों में सार्त्र मानवीय उत्तरदायित्व को महत्व देता है।

मनुष्य जो कुछ भी करता है उसके लिये वह पूर्णरूप से उत्तरदायी है। मनुष्य अपने सुख-दुःख के लिये किसी को उत्तरदायी नहीं ठहरा सकता।

मनुष्य जो कुछ अपने लिये चयन करता है वह संपूर्ण समाज के लिए होता है। इसलिये मनुष्य नियम निर्माता भी है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सार्त्र यह कभी नहीं मानता कि संसार में कोई नैतिक नियम पहले से विद्यमान है और मनुष्य उन्हें

मानने के लिये ब्राह्मण है। वह कहता है—मनुष्य का जीवन विष्णु रूप से उसका अपना ही है उसमें किसी भी प्रकार की पूर्व स्वीकृतियों एवं विश्वासों की गुंजाईश नहीं है, चाहे वे धर्म, दर्शन या समाज से सम्बद्ध हों।

सार्त्र के मानव संबंधी विचार

अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने मानव सत्ता को सर्वोपरि माना है। सार्त्र ने तो मानव को संपूर्ण स्वतंत्रता प्रदान कर ईश्वर के अस्तित्व को ही नकार दिया है। सार्त्र यह मानता है कि मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र है वह जैसा चाहता है वैसा अपने आपको बनाता है। सार्त्र की दृष्टि में चुन सकने या निर्णय करने की शक्ति या सार्थकता स्वतंत्रता है। उसकी यह स्वतंत्रता वैयक्तिक है। उसने चुनाव को एक वाक्य में रखते हुए कहा है—

Man cannot be sometime slave and sometime free. He is wholly and forever free or he is not free at all.

सार्त्र का स्वतंत्रता संबंधी प्रत्यय उसके शून्यतावाद प्रत्यय से संबंधित है। इस कारण वह कहता है कि “मनुष्य स्वतंत्र होने के लिये अभिशप्त है।”

मैं जो कुछ करूँ मेरा तत्त्व मेरे कार्यों में, मेरी बातचीत में मैं, मेरी अनुभूति में सदा व्यक्त होता रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि अस्तित्व ही तत्त्व की मूल अभिव्यक्ति है, क्रिया के कर्म को सार्त्र अस्तित्व कहता है। अस्तित्व का क्रम शाश्वत गतिशीलता का कर्म है। हमारा अस्तित्व है, इसका अर्थ यह भी है कि हम कार्य करने के क्रम में है।

सार्त्र मानवीय उत्तरदायित्व को बहुत महत्व देता है। सार्त्र की दृष्टि में यह जान लेना ही पर्याप्त है कि मनुष्य का अस्तित्व है वह इससे आगे जाना ही नहीं चाहता, उसके आगे कोई लक्ष्य ही निर्धारित नहीं करना चाहता है। जबकि आत्मा के लिये यह जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। “वो है”। फिर भी योगेन्द्र शाही कहते हैं—“सार्त्र में सदैव यह भावना प्रबल रही है कि मनुष्य को वह होना है, जो अब तक वो नहीं है।”

जीवन को उद्देश्य रहित मानते हुए सार्त्र में स्थितियों को बदलने व मुक्ति की कामना है वह आचार्यजी की ही भांति इन “चरम स्थितियों में ही वास्तविक स्वतंत्रता की अनुभूति की संभावना पर बल देता है।

अधिकांश भारतीय दर्शनों की यह मान्यता रही है कि वे कांक्षा या ईच्छा को वेदना का कारण मानते हैं। ये इच्छायें त्याग कर ही व्यक्ति मुक्त हो सकता है। सार्त्र का विचार है कि यह इच्छाओं को त्याग अपने आपको नष्ट कर देगा। सार्त्र का मत है मनुष्य को अपने अस्तित्व के बारे में ज्ञान होना ही जीवन का लक्ष्य है।

मनुष्य चयन करने के लिये स्वतंत्र है किन्तु न चयन करने के लिये स्वतंत्र नहीं है।

दो विकल्पों में से एक विकल्प का चयन न करना भी तो चयन करना ही है। इसलिये सार्त्र कहता है कि मनुष्य को स्वतंत्र होना पड़ता है। मनुष्य के सामने स्वतंत्र होने की परवशता इसलिये है कि उसने न अपने अस्तित्व की रचना की, न ही

अपने को स्वतंत्र बनाया है। सार्त्र मनुष्य की स्वतंत्रता का इस हद तक समर्थक है कि वह मनुष्य को अपनी वासनाओं और मूल प्रवृत्तियों के बशीभूत नहीं मानता है। उनकी उत्पत्ति के लिये भी मनुष्य उत्तरदायी है। मनुष्य अपनी परिस्थितियाँ भी स्वयं निर्मित करता है। वह किन्हीं परिस्थितियों के लिये बाध्य नहीं है, सार्त्र कहता है—“मनुष्य सर्वथा और सर्वदा स्वतंत्र है, स्वतंत्रता पर आवरण पड़ सकता है किन्तु वह नष्ट नहीं होती है।”

सार्त्र कहता है—न कोई कार्य स्वयं भला-बुरा है न कोई लक्ष्य पूर्ण और अन्तिम है। ऐसी कोई भौतिक मानसिक या ऐतिहासिक संरचना नहीं है, जिसका अतिक्रमण मनुष्य अपनी स्वतंत्र सत्ता से न कर सकता हो।

नीति संबंधी विचार

सार्त्र के नीति शास्त्र में सबसे अधिक प्रामाणिकता है, जो जैन धर्म में पंच-महाव्रत के समान है। प्रामाणिकता के लिये नैतिक नियमों की नहीं वरन् एक जीवन विधि की आवश्यकता होती है। सार्त्र मानता है कि चयन के पूर्व मनुष्य के सामने कोई नैतिक नियम नहीं है। परन्तु चयन के बाद मनुष्य की चेतना का यह आवश्यक कार्य हो जाता है कि वह मूल्यों का निर्धारण करे। सार्त्र ने नीति पर अपने विचार बहुत समय बाद प्रकट किये जिससे कई आलोचकों ने समझा कि सार्त्र नैतिकता का समर्थन नहीं करता, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। सार्त्र के नैतिक विचारों को उसके “बुरे विश्वास” (Bad faith) को जानकर या उसका विश्लेषण करके जाना जा सकता है।

पर्यावरण का प्रभाव

इस संबंध में सार्त्र का विचार है कि वह व्यक्ति पर यंत्रवत् प्रभाव नहीं डालता। व्यक्ति पर्यावरण से जितना संबंधित होता है और उससे जितना प्रयोजन रखता है। उतने ही अनुपात में पर्यावरण मनुष्य पर सक्रिय होता है। यह पर्यावरण की सक्रियता व्यक्ति के लिये एक स्थिति उत्पन्न करती है। मनुष्य उस स्थिति के अनुकूल आचरण करता है। मनुष्य का बाह्य व्यवहार उसके चयन का प्रतीक है। सार्त्र उसे पर्यावरण के प्रभाव की उत्पत्ति नहीं मानता। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य विविधताओं का संग्रह नहीं अपितु समग्रता है। वह अपने छोटे-छोटे कार्य व्यापार में अपनी समग्रता का उपयोग करता है।

इस प्रकार अस्तित्व की प्रामाणिकता स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व भावना, प्रतिबद्धता तथा कार्यशीलता सार्त्र दर्शन के मुख्य अंश है। □

—श्रीमती वीरबाला छाजेड़

द्वारा प्रदीप छाजेड़ एण्ड कम्पनी
१००, गोपाल मण्डी मार्ग
कन्थल, उज्जैन—४५६००६

प्राचीन भारत में परिव्राजिकायें

रतनलाल मिश्र

प्राचीन भारत में चतुराश्रम व्यवस्था का प्रचलन था। संपूर्ण मानव जीवन चार भागों में विभाजित था। ये भाग ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास थे। उपनिषद् काल में विशेषकर अति प्राचीन उपनिषदों के काल में, संन्यास आश्रम को प्रश्रय नहीं दिया गया। महाभारत में संन्यास आश्रम की स्पष्ट रूप से निन्दा की गयी है तथा इसे नास्तिक धर्म बताया गया है।

संन्यास धारण करने के अनेक कारणों में संसार से विराग, वाङ्मय, जीवन का दुःख, प्रतिकूल गृहस्थ व्यवस्था, भावावेश, बड़ी हुयी धर्म भावना और मुक्ति की कामना आदि अनेक कारण होते थे। स्त्रियों के कारणों में पति की मृत्यु, संसार से वैराग्य, निराश्रयता, मुक्ति कामना आदि प्रमुख कारण थे। कई बार पति के संन्यासी होने पर पत्नी भी संन्यास ग्रहण कर लेती थी।

प्राचीन काल में संन्यास ग्रहण करने वाली अनेकों परिव्राजिकाओं की बात ज्ञात है। ब्राह्मण परिव्राजिकायें या संन्यासिनियों की संख्या यद्यपि संन्यासियों के समक्ष कम थी तथापि प्राचीन धार्मिक साहित्य में बराबर उनके नाम मिलते हैं। ऐसी परिव्राजिकाओं का समाज के विभिन्न वर्गों में बड़ा मान सम्मान प्राप्त था तथा उन्हें देवी गुणों से युक्त मानकर उचित आदर दिया जाता था।

प्राचीन ग्रन्थों में विष्णु धर्मपुराण (३६।७) ममुस्मृति (८।३६३) नारद स्मृति (१२।७४) आदि में परिव्राजिकाओं के उल्लेख मिलते हैं। बुहलर ने रक्षसा और शिलामित्र जैसी तापसियों का उल्लेख किया है। पाणिनि का श्रमणादि गणपाठ है। पतंजलि ने शंकरा नामा परिव्राजिका का वर्णन किया है। उस समय इन संन्यासिनियों को श्रमणा, प्रव्रजिता, तापसी, कुमार श्रमणा आदि नामों से अभिहित किया जाता था। तक्षशिला की प्रसिद्ध तपस्विनियों में शंकरा और शकुनिका की गिनती की जाती थी।

महाभारत में स्त्री को योग के योग्य माना गया है। (१२।२४१) सुलभा नामक एक तपस्विनी का वर्णन महाभारत (१२।३२२) में आया है। इसने राजषि जनक से मोक्ष धर्म पर चर्चा की थी। जनक ने उसे भयवश ब्राह्मण तापसी माना था इस पर सुलभा ने उसके धर्म को दूर करते हुये उन्हें बताया कि वह क्षत्रिया है और योग्य पति न मिलने के कारण उसने गृहत्याग किया है। उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस युग में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय जातियों की स्त्रियां गृहत्याग कर संन्यासिनी बन जाती थीं।

सुलसी प्रज्ञा, लाडनू : खंड २३ अंक ४

रामायण में भिक्षुणी (२।२९) एवं तापसी (७।४५-५०) का वर्णन आया है। कुछ ब्राह्मण कन्यायें गुरु के पास आश्रम में शिक्षा ग्रहण करती थीं। इनमें कुछ नैतिक व्रत धारण कर लेती थीं।

आगे के काल में भी यह प्रथा-प्रचलन में रही। महाकवि कालिदास के काल (ई० पू० प्रथम शती) में इस प्रथा की विद्यमानता की बात का ज्ञान स्वयं महाकवि की रचनाओं से होता है। मालविकाग्निमित्र नाटक में महाकवि एक परिव्राजिका का उल्लेख करते हैं। अग्निमित्र उसे 'भगवती' शब्द से संबोधित करता है तथा प्रणाम करता है। नृत्य आचार्य गणदास और हरदत्त के मध्य समुपस्थित विवाद में राजा इस परिव्राजिका को निणायक नियुक्त करता है। आगे के वर्णन से ज्ञात होता है कि इस परिव्राजिका को नृत्यकला का अति सूक्ष्म ज्ञान है। इस ज्ञान के आधार पर घोषित इसके निर्णय से राजा प्रसन्न होता है। इस परिव्राजिका ने वैधव्य और अपने भाई की मृत्यु के कारण कषाय वस्त्र ग्रहण कर लिये थे। 'ततो भ्रातृ शरीरमग्निसात् कृत्वा पुनर्नवीकृत वैधव्यदुःखया मया त्वदीयं देशमवतीर्य कषाये गृहीते।'

इसी प्रकार 'अभिज्ञान शाकुंतल' में आये एक प्रसंग से भी ज्ञात होता है कि उस काल में कुछ कन्यायें विवाह नहीं कर आजन्म-वनवासिनी बनीं रहकर परिव्राजिका के रूप में जीवन यापन करती थीं। शाकुंतला को तपस्वी आश्रम में प्रथम बार देखकर दुष्यन्त के मन में यह शंका थी कि कहीं इसने आजन्म ब्रह्मचारिणी रहने का व्रत तो नहीं कर रखा है। वह इस शंका का निवारण प्रियम्बदा से करते हुये कहता है—

वैरवानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्
व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम् ।
अत्यन्तमेव सदृशेक्षण वल्लभाभि
राहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्ग नाभिः ॥

अर्थात् आपकी यह प्रिय सखी विवाह होने तक ही इस मुनि वेष को धारण करेगी या समस्त जीवन इन हरिनियों के साथ ही बितायेगी। स्त्रियों में भावुकता का समावेश पुरुषों से अधिक होता है अतः प्रतिकूल परिस्थितियों में भावावेश में वे प्रव्रज्या ग्रहण कर लेती थीं। कुछ का यह प्रयत्न अतीव सुविचारित भी होता था। बौद्ध युग में इसके पूर्व तपस्विनियों एवं भिक्षुणियों की संख्या में अकथनीय रूप से वृद्धि हुयी। इस काल में संसार को दुःखमय मानकर अनेकों स्त्री पुरुष प्रव्रज्या ग्रहण करने लगे। प्रव्रजितों की समाज में एक बाढ़ सी आ गयी थी जिसमें स्त्रियाँ भी पीछे नहीं रहीं।

बौद्ध संघ के प्रारंभिक काल में सभी इच्छुक व्यक्तियों को भिक्षु धर्म की दीक्षा प्रदान की जाती थी जो इसके लिये कृतसंकल्प होते। स्त्री जाति को इस अधिकार से वंचित किया गया था। आगे चलकर अनुपयुक्त लोगों को दीक्षा नहीं दी जाती थी। बौद्ध भिक्षु बनने के लिये प्रव्रज्या और उपसम्पदा की दीक्षा अनिवार्य होती थी। पहली दीक्षा १५ वर्ष की वय में तथा बीस वर्ष की अवस्था में, दूसरी दीक्षा इसके ५ वर्ष बाद दी जाती थी।

आगे चलकर भगवान् बुद्ध आनन्द के तर्क और अनुरोध की अवमानना नहीं कर सके और खिन्न मन से उन्होंने प्रवज्याकाक्षिणी नारियों को भी संघ में सम्मिलित करने की स्वीकृति प्रदान कर दी। चुल्लवग्ग के अनुसार बुद्ध ने दुःखित मन से आनन्द को कहा था कि अगर स्त्रियों को सम्मिलित नहीं किया जाता तो यह धर्म चिरस्थायी होता अब केवल पांच सौ वर्षों तक ही स्थिर रह सकेगा।

स्त्री की संघ में उपस्थिति पुरुष की आध्यात्मिक साधना में बाधक बनकर उपस्थित हुयी। भिक्षु संघ के उच्च आदर्श च्युत होते गये। ब्राह्मण धर्म में व्यक्ति तब सन्यास ग्रहण करता जब यौवन का अवसान होने पर उसकी वासनायें समाप्त हो जातीं। इधर बौद्ध धर्म में व्यक्ति १५ वर्ष की अपरिपक्व वय में ही श्रमणेर बन जाता था अतः नारी के सान्निध्य से उसके पतन की संभावनायें निरन्तर बनी रहती थीं। एक नियम बना दिया कि अगर कोई श्रमणेर किसी भिक्षुणी से सहवास करेगा तो उसे संघ से निष्कासित कर दिया जावेगा।

बौद्ध धर्म के प्रारंभिक काल में प्रवज्या की ओर लोक रुचि में अकथनीय रूप से वृद्धि हो चली थी। स्त्रियां अपेक्षाकृत अधिक धर्मभीरु होती हैं। स्त्री परिव्राजिकाओं में वृद्धा स्त्रियां, विधवायें धर्म शरणागत होने लगीं। थेरी गाथा में गीतमी, सुन्दरी, इसिदासी, सोणा और शावयकुमारियों के वृत्त प्राप्त होते हैं। अपने पुत्र, पति, माता पिता को छोड़कर पटाचारः भगवान् बुद्ध की शरण में गयी। अनेकानेक नवयुवक अपनी युवापत्नियों को त्यागकर भिक्षु बन गये तो उनकी पत्नियां भी संघ की शरण में चली गयीं। ऐसी भिक्षुणियों में चापा का नाम आता है। भट्टा नामक राजगृह की एक श्रेष्ठ कन्या एक दस्यु पर प्रेमासक्त हो गयी पर असफल होने पर भिक्षुणी बन गयी।

कभी स्त्रियां जब संघ की शरण जातीं तो वे गर्भवती होतीं और उन्हें इसकी जानकारी नहीं होती। आगे चलकर इससे बड़ी जटिल समस्या उत्पन्न होती। ऐसे शिशु का भार सद् गृहस्थ उठा लेते और माता को संघ में बने रहने दिया जाता। विनय पिटक (पृ. १२५) में कुन्तक नामक श्रमणेर द्वारा एक भिक्षुणी के साथ व्यभिचार किये जाने का उल्लेख किया गया है।

बौद्ध युग में जैसा पूर्व में कहा गया है भिक्षुणियों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुयी। इस प्रकार जैन धर्म में भी साधिकाओं की संख्या निरन्तर बढ़ती गयी। इस प्रथा के कारण दोनों धर्मों की धर्म साधनाओं में ह्रास का सूत्रपात हुआ। वस्तुतः धर्म के कठोर अनुशासन के अनुरूप जीवन को ढालने और कठोर साधनाओं का मार्ग अपनाने में स्त्री जाति कभी पुरुष वर्ग से पीछे नहीं रही। मन की शुद्धि व्यक्ति के मन पर आश्रित है अतः लिंग, वय एवं जाति इस सम्बन्ध में विचारणीय नहीं रह जाती। ■

—डॉ. रतनलाल मिश्र

४४।६२ किरणपथ, मानसरोवर

जयपुर पिन ३०२०२०

साहित्य-सत्कार एवं पुस्तक-समीक्षा

१. श्री रत्नप्रभाचार्य कृत रत्नाकरावतारिका, भाग—१, संशोधक एवं सम्पादक—मुनिराज श्री कल्याण बोधि विजय; गुजराती भाषा—धीरजलाल डाह्या लाल मेहता; प्रकाशक—श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, कनाशानो पाड़ो, पाटण (उ० गु०) प्रकाशन वर्ष—वि० सं० २०५३; मूल्य ३००/- रुपये ।

श्री वादिदेवसूरि कृत प्रमाण नय तत्त्वालोका जैन न्याय का अद्भुत ग्रंथ है । स्याद्वाद रत्नाकर नाम से उस पर स्वोपज्ञ वृत्ति है जिसे सुगम बनाने को सूरिजी के शिष्य रत्नप्रभ सूरि ने उस पर रत्नाकर अवतारिका टीका की है । श्री मलय विजयजी ने उसका गुजराती अनुवाद किया है और श्री धीरजलाल मेहता ने उसे प्रकाशन योग्य बनाया है । प्रस्तुत जिल्द में केवल दो परिच्छेदों को मुनिश्री कल्याण बोधि विजयजी से संशोधित कराके प्रकाशित किया गया है ।

श्री वादिदेव सूरि ११वीं १२वीं सदी में हुए । वे वाद-निपुण और जैन न्याय शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे । उनके इस ग्रंथ प्रमाण नय तत्त्वालोका में आठ परिच्छेद हैं जो ३७९ सूत्रों में निबद्ध हैं । प्रमाण, उसके दो भेद-प्रत्यक्ष एवं परोक्ष, प्रतिभेद, नैगम आदि सात नय, नयाभास, प्रमेय द्रव्य, प्रमाता आत्मा, प्रमाण फल और वादविधि आदि विषयों पर सूरिजी ने विशद् और युक्तियुक्त विवेचन किया है ।

इस जिल्द में अवतारिका टीका को सुगम और बोधगम्य बनाने के लिए विस्तृत गुजराती व्याख्या दी गई है । प्रथम परिच्छेद में प्रमाण और नय को वस्तु तत्त्व के व्यवस्थापन में उपयोगी सिद्ध किया है और न्याय दर्शन के प्रमाण करण प्रमाणम् को पर्याप्त न मानकर ज्ञान का लक्षण—स्व पर व्यवसायी ज्ञान प्रमाणम्—दिया गया है । वादि देव सूरि का मन्तव्य है कि प्रमाण यथार्थ (स्वसंविहित) ज्ञान होता है । उसमें स्व पर का व्यवसायी ज्ञान होना जरूरी है । इन्द्रिय सन्निकर्ष तो जड़ है, वह प्रमाण नहीं हो सकता । इसी प्रकार संशय-विपर्यय अनध्यवसाय भी असम्भ्य ज्ञान है ।

दूसरे परिच्छेद में प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान भेदों में स्पष्ट प्रमाण को प्रत्यक्ष कहा है और उसे सांख्याहारिक और पारमार्थिक भेद से दो प्रकार का बताया है । सांख्याहारिक ज्ञान इन्द्रिय निबंधन और अनिन्द्रिय निबंधन से दो प्रकार का है जो पुनः अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा उप भेदों में चार-चार प्रकार के हैं । इसी प्रकार पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी विकल और सकल भेद से दो प्रकार का है । विकल ज्ञान अवधि और मनःपर्यय से दो प्रकार का है जिनमें अवधि से रूपी द्रव्य और मनः पर्यय से मनो द्रव्य जाने जाते हैं । सकल ज्ञान अशेष सामग्री संभूत समस्त ज्ञानावरणी कर्मों के क्षयोपक्षम से होता है और इसके द्वारा निखिल द्रव्यों के पर्यायों का साक्षात्कार होता

तुलसी प्रज्ञा, लाडनू—खंड २३, अंक ४

है। यह ज्ञान जिसको होता है वही अर्हत् कहा जाता है। उसके कवलाहार से सर्वज्ञता अविरोधी है इसलिए उसकी सर्वज्ञता में कोई बाधा नहीं होती।

सर्वांश में पूज्य श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी की प्रेरणा और आशीर्वाद से श्री जिन-शासन आराधन ट्रस्ट ने इस दुर्गम पथ को सुगम बनाने का सदुद्योग किया है जिसके लिए ट्रस्ट के सभी ट्रस्टी साधुवाद के पात्र हैं। आशा है, शेष भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित होंगे और इस अद्भुत ग्रंथ के मुख्य विषय—प्रमाण और नय में पाठकों की अभिरुचि बढ़ेगी।

२. हस्त प्रतों में उपलब्ध प्राचीन पाठों (शब्द-रूपों) के आधार पर भाषिक दृष्टि से पुनः सम्पादित—आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध : प्रथम अध्ययन); सम्पादक—के. आर. चन्द्र; प्रकाशक—प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद—३८००१५; सन् १९९७; मूल्य १५०/- रुपये।

डॉ. के. आर. चन्द्र पिछले कई वर्षों से प्राचीन अर्द्धमागधी भाषा के मूल स्वरूप को शोधने में लगे हैं। सन् १९९२ में उनका इस संबंध में पहला प्रकाशन—प्राचीन अर्द्धमागधी की खोज में छपा। सन् १९९४ में दूसरा प्रकाशन—रेस्टोरेशन ऑफ़ बी ओरिजिनल लैंग्वेज ऑफ़ अर्द्धमागधी टेक्स्ट्स छपा और सन् १९९५ में परम्परागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा और अर्द्धमागधी नामक तीसरा ग्रंथ मुद्रित हुआ। आधुनिक भाषा विज्ञान तकनीक के हिमायती विद्वानों ने उनका पूरजोर स्वागत किया और पुरातन पंथी और आगमों में भाषिक छेड़छाड़ के विरोधी तथा शब्द से अधिक अर्थ को प्राधान्य देनेवाले श्रद्धालु विद्वानों ने उनका विरोध भी किया।

संप्रति वे अपने द्वारा निर्धारित मापदण्डों के आधार पर भाषिक दृष्टि से पुनः सम्पादित आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध: प्रथम अध्ययन) के प्रकाशन के साथ उपस्थित हुए हैं। निःसंदेह यह उनके अजस्र अध्यवसाय, कठिन परिश्रम, सतत पाठानुशीलन और मूलभाषा तक पहुंचने की उनकी तड़प का ही परिणाम है। लगता है उन्हें महावीर की वाणी के यत्किञ्चित् दर्शन हुए हैं !

डॉ० चन्द्र ने प्रो० एच० जकोबी के द्वारा ताडपत्रीय प्रत् सं० १२९२ और कागज पर लिखे ग्रंथ सं० १४४२ के आधार पर संपादित 'आचारांग सुत्तम्' के 'पठमं अण्ण-यणं' की मूल लिपि (फोटो) प्रकाशित की है। महावीर जैन विद्यालय और आगमोदय समिति संस्करणों से २६० शब्दों के स्वरूप और जैन विश्व भारती और महावीर जैन विद्यालय से ७२ शब्द; आगमोनय समिति और जैन विश्व भारती संस्करणों में ६२ शब्द; महावीर जैन विद्यालय संस्करण और सं० १३०३ का ताडपत्रीय प्रति (खंभात) से ८० शब्द; सं० १३२७ की ताडपत्रीय प्रति से २० शब्द; सं० १३४८ की ताडपत्रीय प्रति से ४० शब्द तथा सं० १४८५ की ताडपत्रीय प्रति से ४७ शब्द इत्यादि अनेक रूप परिवर्तनों की तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्रकाशित किया है। वृत्ति, निर्युक्ति, प्राकृत व्याकरण और अन्य जैनागमों से भी कतिपय शब्दों की तुलना और रूप परिवर्तनों को देकर अपने मानदण्ड निर्धारित किए हैं और तदुपरांत आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुत स्कंध के प्रथम अध्ययन का पुनः संपादन किया है।

इस संपादन में फुटनोट्स में संदर्भ सहित पाठान्तर दिए गए हैं और शब्दों में ध्वनि परिवर्तन का अध्ययन कर पं० बेचरदास दोशी और मुनि पुण्य विजयजी के निष्कर्ष अनुकूल वर्तमान में प्रकाशित हो रहे ध्वनि परिवर्तन को विकृति कहा है। शब्द रूपों की अनुक्रमणिका देकर जैन विश्व भारती, महावीर जैन विद्यालय, आगमोदय समिति, वाल्थेर शुब्रिंग तथा चन्द्रा के संस्करणों से उनकी तुलना दी गई है।

इस प्रकार यह पुनः संपादन अनेक दृष्टियों से ऐतिहासिक और महत्त्वपूर्ण बन गया है। पं० दलसुख मालवणिया के शब्दों में कहा जा सकता है कि—“जैन आगमों की भाषा दुर्भाग्य से मात्र अर्धमागधी न रहकर महाराष्ट्री से अधिक प्रभावित हो गयी है।” प्रो० एच० सी० भायाणी का यह निष्कर्ष भी ठीक है कि मूल अर्धमागधी का विकसित रूप हमें (यत्किञ्चित्) अशोक के पूर्वी शिलालेखों की लिपियों में देखने को मिलता है। अन्यत्र नहीं।

सर्वांश में कहा जा सकता है कि डॉ० चन्द्र ने अपनी शोध से जो मार्गदर्शक मानदण्ड बनाए हैं वे भगवान् महावीर की मूल भाषा तक पहुंचने के महत्त्वपूर्ण पड़ावों में शामिल हो गए हैं और हमें आशा करनी चाहिए कि यह यात्रा अब जारी रहेगी।

३. आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन, लेखिका—डॉ० प्रियदर्शनाश्री, प्रकाशक—पाश्र्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी एवं राज-राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, हाथी-खाना, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण—१९९५, मूल्य ८०/- रुपये।

प्रस्तुत ग्रंथ, श्री अवधेश प्रतापसिंह विश्वविद्यालय, रीवा से पी-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत थीसिस है जो साध्वीश्री प्रिय दर्शनाजी ने डॉ० अखिलेश कुमार राय एवं डॉ० सागरमलजी जैन के मार्गदर्शन में लिखा है। इस ग्रंथ में पीरवर्त्य एवं पाश्चात्य आचार दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में आचारांग का अध्ययन है।

जैनधर्म मूलतः निवृत्ति प्रधान है। उसमें आचार के दो भाग—श्रमणाचार एवं गृहस्थाचार हैं किन्तु साध्वीश्री ने रेखांकित किया है कि आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों में गृहस्थाचार का विवेचन नहीं है। उनके अनुसार आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में अहिंसा, संयम, अप्रमत्तता आदि आचार के सिद्धान्त हैं और दूसरे श्रुतस्कन्ध में आचार के विभिन्न नियम-उपनियम। दूसरे श्रुतस्कन्ध में मुनि को किस प्रकार का आहार, वस्त्र, पात्र और निवास ग्रहण करने तथा साधु-साध्वियों के पारस्परिक और सामाजिक व्यवहार—आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

हिंसा का मूल कारण परिग्रह है। स्तेय वृत्ति का कारण भी परिग्रह है और बिना ब्रह्मचर्य के सत्य का पालन अथवा अहिंसा की साधना नहीं हो सकती; इसलिए आनुषंगिक रूप में अहिंसा ही सर्वोपरि है। यही नैतिकता और अनैतिकता का मापक है। उसमें भावना और विवेक दोनों सम्मिलित हैं जो बौद्धिक भी हैं और भावनात्मक भी। यही कारण है कि जैन आचार, दर्शन का केन्द्र बिन्दु अहिंसा है।

लेखिका का यह भी निष्कर्ष है कि आत्मा की अमरता और आत्मा के कर्तृत्व

एवं भोक्तृत्व को आचारांग स्पष्ट रूप में स्वीकार करता है इसलिए वह गीता के समान ही आत्मा को अछेद्य, अभेद्य, अबाह्य और अहन्य स्वीकारता है और पूर्वजन्म को भी ग्रहण करता है। पाश्चात्य दर्शन में स्वीकृत तीन मान्यताएँ—(१) आत्मा की अमरता (२) इच्छा स्वातन्त्र्य और (३) ईश्वर के अस्तित्व में आचारांग प्रथम दो को स्वीकार करता है किन्तु नैतिक व्यवस्था के लिए ईश्वर के स्थान पर 'कर्म का नियम' स्वीकार करता है।

इसी प्रकार के अनेक निष्कर्ष लेखिका ने दिए हैं। उनका एक निष्कर्ष है कि आचारांग ने त्रिविध साधना मार्ग बताया है जिसमें अहिंसा, समाधि और प्रज्ञा है। ये बौद्ध धर्म के प्रज्ञा, शील और समाधि रूप त्रिविध साधना पथ के पुरोगामी हैं और उनके अनुसार ये ही कालान्तर में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र्य में विकसित हुए हैं। लेखिका का दूसरा निष्कर्ष यह है कि आचारांग को मुख्यतः निषेधात्मक नैतिकता का प्रतिपादक माना जा सकता है किन्तु उसका अहिंसा—सिद्धान्त लोक पीड़ा के निवारणार्थ है इसलिए वे इसे विधेयात्मक रूप में भी देखती हैं।

सर्वांग में यह अध्ययन तुलना और समीक्षा के साथ भारतीय मनीषा की प्राचीनतम आचारनिष्ठा को आधुनिक सोच के अनुसार देखने का संभवतः प्रथम प्रयत्न है और हर्ष का विषय है कि लेखिका ने बिना लाग-लपेट के निर्णय लेने की कोशिश की है परन्तु कहीं भी आचारांग के उपदेश और उसकी रचना के मूल उद्देश्य को तिरोहित नहीं होने दिया है। इस अध्ययन में आचार नियमों का प्रतिपादन आध्यात्मिक विकास के मार्ग में अवरोधक खड़े नहीं करता हालांकि लेखिका ने नैतिक साध्य के रूप में सुख, विवेक और आत्मपूर्णता को मानदण्ड मानकर अपना अध्ययन किया है।

मूल्य कम है और साजसज्जा और मुद्रण अच्छा है। आशा है नई पीढ़ी में पुस्तक का प्रचार-प्रचार होगा।

४. आनन्दघन का रहस्यवाद, लेखिका—साध्वी सुदर्शनाश्री, प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, आई० टी० आई रोड वाराणसी—५। मूल्य—पचास रुपये।

प्रस्तुत प्रकाशन से मिली जानकारी के अनुसार इस कृति का प्रणयन पार्श्वनाथ विद्याश्रम के प्रांगण में रहकर हुआ है किन्तु साध्वीश्री द्वारा इसे प्रकाशित करने की अनुमति न देने पर भी इसे मुद्रित कर दिया गया। साध्वीश्री की दृष्टि से 'इसमें काफी सुधार की आवश्यकता है।'

डॉ० सुदर्शनाश्री के अनुसार 'प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का मुख्य प्रयोजन है—आनन्दघन की उपलब्ध काव्य-कृतियों में निहित रहस्यवादी-प्रवृत्तियों की खोज करना। अतः स्तवनों या पदों की संख्या एवं उनकी प्रामाणिकता का प्रश्न हमारी विषय सीमा में नहीं आता।' अर्थात् वे इस अध्ययन को मुख्यतः आनन्दघनजी के नाम से मिलनेवाले पदों में रहस्यवाद की खोज तक सीमित रखना चाहती हैं। इस दृष्टि से ही इसमें रहस्यवाद का परिचय, आनन्दघन की विवेचन पद्धति, आनन्दघन के रहस्यवाद के दार्शनिक आधार, आनन्दघन का साधनात्मक एवं भावात्मक रहस्यवाद—जैसे

अध्याय हैं और कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व पर कुछ भी निर्णयात्मक नहीं लिखा गया है। केवल उनकी दो कृतियाँ—‘आनन्दघन चौबीसी’ और ‘आनन्दघन बहोत्तरी’ को सामने रखकर यह अध्ययन हुआ है। लेखिका का निष्कर्ष है कि आनन्दघन के पदों में भक्ति, योग, अध्यात्म, दर्शन, ज्ञान, वैराग्य, स्वानुभूति, आत्मानुभव-रस, उदारता, सत्संग-माहात्म्य, श्रृंगार, विरह मिलन आदि अनेक विषयों का समावेश है किन्तु उनका प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म तत्त्व का विवेचन ही है।

अध्ययन का निष्कर्ष है कि ‘यद्यपि आनन्दघन की रचनाएं परिमाण से न्यून हैं किन्तु इन कृतियों में रहस्य भावना का अगाध सागर लहरा रहा है। उनकी इन कृतियों के आधार पर ही हम अध्यात्म-कवि-कुलमणि आनन्दघन की जीवन-दृष्टि समझ सकते हैं। जिस प्रकार उपवन का एक-एक सुरभित पुष्प समस्त प्रकृति का सौन्दर्यान्न्द हमारे अन्तर में उतारता है उसी प्रकार इस रहस्यवादी कवि की एक-एक रचना हमारे अन्तर मानस को आलोकित करती है।’ लेखिका का कहना है कि आनन्दघन का रहस्यवाद एक वृक्ष की भांति है, जिसका बीज परमात्म-प्रेम है, अंकुर आध्यात्मिक विरह है, आत्म-दर्शन फूल है और परमात्म स्वरूप की उपलब्धि मधुर फल है। उसमें रत्नत्रय, भक्ति और योग का सुन्दर समन्वय हुआ है।

वस्तुतः आनन्दघन की विवेचन-पद्धति विविध रूपिणी है। उसमें प्रतीक, अमूर्त तत्त्वों का मानवीकरण, रूपक, रहस्य और समन्वयात्मक दृष्टि के सर्वत्र दर्शन होते हैं। इसीलिए “आनन्दघन—बाईसी” पर बालाबबोध के लेखक मुनि ज्ञानसार लिखते हैं—

आशय आनन्दघन तणो, अतिगंभीर उदार ।

बालक बांह पसारी जिम करे उदधि विस्तार ।”

किन्तु कवि आनन्दघन केवल हाथ पसारकर ही समुद्र का विस्तार नहीं बताते। वे कहते हैं—

समता रतनाकर की जाई, अनुभव चंद सु भाई ।

कालकूट तजि भव में सेणी, आय अमृत ले जाई ॥

लोचन चरण सहस चतुरानन, इनते बहुत डराई ।

आनन्दघन पुरुषोत्तम नायक, हितकारी कंठ लगाई ॥

अर्थात् समता हृदय रूप समुद्र की पुत्री है और अनुभव रूप चन्द्रमा उसका भाई है। उसमें संसार की विषय वासना रूप गरल को त्याग कर शांति रूप अमृत का स्रजन किया है किन्तु वह सहस्रों नेत्र और हजार पैर वाले क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चतुर्मुख से डरती है तो आनन्द रूप परमात्मा उसे इस डर से मुक्त कर देते हैं।

इस प्रकार ओघ निर्युक्ति के अनुसार जो समस्त जैन आध्यात्मिक साहित्य का सार तत्त्व—आत्म साक्षात्कार है वही आनन्दघन का रहस्यवाद है और कवि उसके द्वारा अपनी समस्त चेतना को आत्म साक्षात्कार के लिए नियोजित करता है। लेखिका ने इस तथ्य को उजागर करने के लिए गंभीर प्रयत्न किया है किन्तु ‘अभी इसमें काफी सुधार की आवश्यकता है।’

५. निग्रन्थ-परम्परा में चैतन्य आराधना—आचार्यश्री नानेश, प्रकाशक—श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, समता भवन, बीकानेर, प्रथम संस्करण—१९९७, मूल्य १०/- रुपये ।

वर्तमान भोगवादी संस्कृति में जी रहा मानव परिग्रह एवं आधुनिक सुविधाओं में सुख मान रहा है और तनाव, संघर्ष एवं अशान्ति में निरन्तर वृद्धि करता जा रहा है। जबकि सुख और शांति हमारी मनः स्थिति को सम रखने में है। आचार्यश्री नानेश ने अनेक आगम सूत्रों की व्याख्या कर यह समझाने की चेष्टा की है कि अणुगार के लिये तेजस्काय व वायुकाय की विराधना से विरत होना ही साधवाचार है। उन्होंने पन्नवणा सूत्र के संघरिस समुद्रिए—पद में संघर्ष से समुपन्न होने से अग्नि को तेजकाय माना है और उत्तराध्ययन सूत्र (३६वां अध्यायन) के विज्जू को विद्युत्। अभिधान राजेन्द्र कोष में तेजकाय शब्द की व्याख्या का हवाला देकर उन्होंने अग्निकाय के तीन प्रकार बताए हैं और बिजली को सचित्त अग्नि सिद्ध किया है।

कुछ विद्वान् बिजली को ऊर्जा बताकर अग्नि से भिन्न करते हैं। उन्हें आचार्य नानेश ने जैन दर्शन के तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ कहा है। आचार्य के अनुसार बिजली और अग्नि, तेजस्काय के भेद हैं। जैसे सूर्य से सूर्य किरण भिन्न नहीं होती वैसे ही अग्नि से ताप भिन्न नहीं है। जब आकाश से बिजली गिरती है तो जीवों की विराधना होती है। वस्तुतः बिजली, अग्नि, उष्णता, प्रकाश—चारों एक गुण के धारक हैं।

इसी प्रकार वायुकायिक हिंसा का सूक्ष्म विवेचन आचार्यश्री ने किया है और कहा है कि अणुगार वायुकायिक हिंसा से विरत बनकर वनस्पति और व्रसकाय की हिंसा से भी विरत रहता है। उन्होंने निग्रन्थ-परम्परा को साधुमार्ग कहा है और इस साधु मार्ग के अन्तर्गत निग्रन्थ आराधना को चैतन्य माना है क्योंकि निग्रन्थ का उद्देश्य चैतन्य है।

इस प्रकार इस लघुकाय पुस्तिका में आगम-प्रमाणों से जैन धर्म में व्यवहृत चैतन्य आराधना को भलीभांति स्पष्ट करके साधु मार्गी परम्परा में जड़ तत्त्व पूजा के प्रावधान न होने को प्रमाणित किया गया है।

६. क्रान्तिकारी संत मुनिश्री तरुण सागर द्वारा लाल किले से राष्ट्र के नाम संदेश—३० नवम्बर १९९७ को दिया भाषण। प्रकाशक—तरुण कांति प्रकाशन, ७० ७० डिफेंस एन्क्लेव, दिल्ली—९२, मूल्य—१०/- रुपये।

३० नवम्बर सन् १९९७ को लालकिले पर मांस-निर्यात के विरोध में अहिंसा रैली हुई। यह रैली सन् १९६६ में हुई गोरक्षा रैली की ही तरह गैर राजनीतिक रैली थी और प्रशासन एवं पुलिस के अनुसार इसमें एक लाख से अधिक लोग थे। रैली में जैन बहन-भाइयों के साथ दिल्ली की आम जनता भी थी जो एक माह तक की गई पदयात्राओं के कारण यहाँ पहुँची थी। इस रैली में प्रमुख लोगों में श्री लालकृष्ण आडवाणी, साहिब सिंह वर्मा, अशोक सिंघल, साहू रमेश जैन, शीलचन्द्र जैन, निमेष कुमार गंगवाल, महेन्द्र सिंह चौधरी इत्यादि अनेकों महत्त्वपूर्ण व्यक्ति इस रैली में उपस्थित थे।

रैली से दो दिन पूर्व प्रेस-वार्ता में रैली के उद्देश्य बाबत बताया गया था कि मांसाहार एक व्यक्तिगत निजी मामला है। मांसाहार रोकने के लिये कोई कानून नहीं बनाया जा सकता। यह तो व्यक्ति की आंतरिक समझ और किसी की सत्प्रेरणा ही उससे मांसाहार छुड़वा सकती है। लेकिन मांस-निर्यात का फसला नीतिगत मामला है। रैली का उद्देश्य सरकार और व्यवस्था पर दबाव बनाना है।

रैली में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भरपूर तर्क दिए गए। कृषि संस्कृति और पशु संस्कृति से मिलकर बनी भारतीय संस्कृति में मांस-निर्यात की कल्पना भी असह्य है। आजादी से पहले ३०० पंजीकृत बूचड़खाने थे आज ३६००० हैं। १९ तो ऐसे बड़े प्रांशिक करलखाने हैं जिनमें प्रतिदिन ३ लाख पशु काटे जाते हैं। देश आजाद हुआ तो २६ करोड़ गायें थीं। आज दस करोड़ हैं। मानव आबादी ३६ करोड़ से ९० करोड़ हो गई और पशु संपदा घटकर एक चौथाई रह गई ?

यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि इस प्रकार पशु हिंसा से जो मांस तैयार होता है उसका ९०% बाहर भेजा जाता है। विशेषतः अरब देशों में। यह गहित कार्य सन् १९६१ में शुरू हुआ था। सरकार भूल गई कि संविधान के अनुच्छेद ५१-ए में कहा गया है—यह प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होना चाहिए कि प्राकृतिक वातावरण एवं उसके अन्तर्गत वन, झील, नदियों और वन्य-जीवन की सुरक्षा करे। इसमें सुधार करे और सभी जीवों के प्रति करुणाभाव रखे। इसलिए यह रैली की गई और सरकार को भारतीय पशु कल्याण बोर्ड पुनः सक्रिय करने का परामर्श दिया गया और मांस-निर्यात को अविलंब बंद करने की मांग की गई ताकि ९०% पशु हिंसा तो तुरन्त बंद हो जाए।

७. अमर जैन शहीद —डॉ. कपूरचंद जैन एवं डॉ. श्रीमती ज्योति जैन, प्रकाशक —श्री कैलाशचन्द्र जैन स्मृति न्यास, खतौली (उ. प्र.)—२५१२०१, मूल्य—४०/- रुपये।

डॉ. कपूरचंद जैन एवं श्रीमती ज्योति जैन ने आजादी की स्वर्ण जयन्ती वर्ष पर यह तथ्य उजागर किया है कि भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में जैन भाई बहनों ने भी बढ़चढ़कर हिस्सा लिया था। उनकी एक कृति—स्वराज और जैन महिलायें गत वर्ष छपी थी। अभी उन्होंने अमर जैन शहीद नाम से जैन भाइयों को स्मरण किया है।

इस संस्करण में कुल २० जैन शहीदों का व्यौरा दिया गया है। सभी शहीदों के संबंध में प्रामाणिक जानकारी है और प्रमाण के आधार भी दे दिए गए हैं। अमर शहीद अमरचंद बांठिया, अमर शहीद फकीरचंद, अमर शहीद सिधई प्रेमचंद, अमर शहीद वीर साताप्पा टोपण्णावर और वीर उदयचन्द जैन आदि के विवरण देशभक्ति और शहादत की साक्षियों से भरे पड़े हैं।

—परमेश्वर सोलंकी

फार्म-४
नियम ८ देखिए

१. तुलसी प्रज्ञा

२. त्रैमासिक

३-४-५. डॉ० परमेश्वर सोलंकी
भारतीय

जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू-३४१३०६

६. जैन विश्व-भारती संस्थान, मान्य विश्वविद्यालय, तुलसी ग्राम,
लाडनू-३४१३०६

७. मैं परमेश्वर सोलंकी एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकतम
जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य
है।

दिनांक २८, फरवरी, १९९८

परमेश्वर सोलंकी
प्रकाशक

English Section

UNIQUE EXAMPLE OF EMBRYO-TRANSFER ?

● *Mangilal Bhutoria*

One branch of modern Reproductive biology deals with transfer of an embryo developed in a test-tube to a female-womb. Medical science has so perfected the process that it is used at various fertility centres and clinics through out the world. The process involves collection of ovum and sperm, their in vitro—fertilisation, development and implantation of the embryo in female-womb. The limit however is that the transfer should be effected within a specific period from the date of fertilisation. This has been necessitated in cases where the couple due to certain infirmity in the reproductive organs is unable to reproduce. A healthy embryo still can not be transferred clinically from one womb to another and it has not been possible as yet in Modern Medical history even to transfer a test-tube embryo after it is more than 3 to 5 days old.

Jain scriptures, however, interestingly contain mention of a unique example of Embryo transfer performed practically about 2600 years ago. It is related to the birth of Mahavira, the 24th Jain Tirthankar. He was born in 599 BC. The ancient scriptures record the reincarnation of Mahavira into the womb of 'Devananda', the wife of Rishav Dutt, a Brahmin. At the orders of Celestial King Lord Indra, Mahavira's embryo after 82 days of pregnancy was transferred into the womb of Trishala, the wife of Khsatriya King Sidhartha by one of Indira's expert angels. The process of transfer is described in detail in various Jain scriptures.¹ The oldest of them is Acharanga Sutra.² It is in Prakrit language. It comprises of the words spoken by Lord Mahavira. Therein, the stanzas³ 991 to 993 of chapter 24 calls "Third Chulika—Bhawna"⁴ give step by step narration of the operation performed by the expert angel⁵ as follows :—

“तओणं समणे भगवं महावीरे अणुकंपतेणं देवेणं जीवमेयं ति कट्टे जे से वासाणं
...बासीतीहि रातिं दिएहि वीतिककंतेहि तेसितिमस्स रातिं दियस्स परियाए ...तिसलाए
खत्तियाणीए वासिट्ठोत्ताए असुभाणं पोग्गलाणं अवहारंकरेत्ता सुभाणं पोग्गलाणं
पक्खेवं करेत्ता कुच्छिसि गम्भं साहरिए । जेवियं तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिसि गम्भे,
तंपियं...देवाणंदाए माहणीए कुच्छिसि गम्भं साहरिए ।”

Tulsi-Prajña, Ladnun ; Vol. 23 No. 4

“Having descended⁶ from heaven Lord Mahavira’s ‘Being’ reincarnated in the womb of Devananda Bhahmini, wife of Rishavdutt in Brahmin colony of Kundpur village, on the 83rd day after impregnation the Celestial Angles transferred Mahavira’s embryo to the womb of Trishala, the Khsarani⁸ Queen after removing all infectious elements and introducing anti-septic elements. Likewise the angels transferred Trishala’s embryo to Devananda’s womb”.

The noteworthy aspects of the aforesaid description are :—

- (a) The operation of embryo transfer takes place after 82 days of pregnancy i.e., on 83rd day to be exact. This is a feat not even accomplished by modern clinical methods as yet.
- (b) The Brahmin colony of Kundpur must be at some distance from the Khsatriya colony of the village where the embryo was taken to and from.
- (c) Before the embryo was taken out or transferred to one womb, a kind of clinical Stenlisation is done to ward off septic elements.

The theme of Mahavira’s embryo-transfer has been discussed by Acharya Sudharma in another ancient jain-scripture ‘Bhagawati Sutra’. Acharya Sudharma was the first successor⁹ of Mahavira. His time is 527-507 BC. He gives an elaborate account of Mahavira’s life and preachings mainly in form of questions and answers as exchanged between Lord Mahavira and His first benefactor¹⁰ Goutam and overheard by him. The descriptions are as authentic as Acharanga-Sutra’s. In chapter¹¹ 5, subheading¹² 4 stanzas¹³ 12 to 13 of Bhagawati-Sutra the answers given to Goutam’s questions regarding the birth and embryo-transfer of Lord Mahavira by Mahavira himself, supposed to have been perceived from his capability to remember even the previous births¹⁴ are as follows.

“गोयमा ! नो गम्भाओ गम्भं साहरइ, नो गम्भाओ जोणिं साहरइ, नो जोणिओ जोणिं साहरइ, परामुसिय, परामुसिय अब्बाबाहेणं अब्बावाहं जोणिओ गम्भं साहरइ ।”
(गाथा १२ उ०)

“हंता पभू, नो चेव णं तस्स गम्भस्स किंचि वि आबाहं वा, विवाहं वा उप्पा-एज्जा, छविच्छेदं पुण करेज्जा, ए सुहमं च णं साहरेज्ज वा निहरेज्ज वा ।”
(गाथा १३ उ०)

“Oh Goutam ! The Angel Harignergmeshi does not take out or place in the whole embryo from one womb to another, Neither he takes out the embryo through female’s vagina and place it in others

stomach, Nor he takes it out or places it in through the Vagina. But he takes out a very micro from of the embryo and places it in another womb. Of course, in such a manner that it does not cause any pain". (Stanza—12)

"Oh Goutam ! The Angel excises the body and penetrates it to bring out only the micro from of the Embryo and transfer it to another womb. (Stanza—13)

The salient points to be marked in the above passages are :—

- (a) Lord Mahavira's answers to the curious questioner Goutama are very emphatic about the process followed in the operation of Embryo transfer although he had no worldly knowledge of the subject matter. This knowledge must be attributed to his sixth sense¹⁵ or capability to remember his previous births.
- (b) The following facts emphatically negative in the process definitely show his super human knowledge :
 - (i) The whole of the embryo was not taken out of one womb and placed in another.
 - (ii) It was not taken out through vagina and placed in the stomach.
 - (iii) It did not cause any pain whatsoever to the mothers.
- (c) The process involved penetrating or excising the body by whatsoever means in such a way that it leaves no scar or sign.
- (d) The embryo or the gene taken out of one womb and placed in another is the minutest possible.

Similarly a vivid description of the whole episode is also found in another ancient scripture "Kalpa-Sutra". Its author Acharya Bhadrabahu, the 8th successor of Lord Mahavira is said to be the last repository of the Universal knowledge. He authored in or about 310 BC, the well known Jain Treatise "Kalpa-Sutra". In stanzas 13 to 30 he elaborately describes the whole story. He precedes the actual operation with the following narration :

"Soudharma-Kalpa's¹⁶ King Shakra¹⁷ oversees from his heavenly abode 'Jambu-Dwip¹⁸ by his Awadhigyan. He comes to know that Lord Mahavira has incarnated into the womb of Devananda Brahmini. He contemplates over it and thinks that Tirthankar, the enlightened one, can not take birth in Brahmin Kul¹⁹. Therefore, it is my duty that I should transfer it to an appropriate womb. He commands 'Harinegmaishi' the expert angel to transfer it to a Khastriyani's womb".

Thereafter the operation of Embryo transfer as performed by the expert angel is lucidly described as follows :

“जेणेव उसभदत्तस्स माहणस्स गिहे जेणेव देवाणंदा माहणी, तेणेव उवागच्छइं तेणेव उवागच्छिता आलोए समणस्स भगवओ महावीरस्स पणामं करेई, करित्ता देवाणंदाए माहणीए सपरिजणाए ओसोवणिं दलइ, ओसोवणिं दलित्ता असुहे पुग्गले अवहरति, अवहरित्ता सुहे पुग्गले पक्खवति, सुहे पुग्गले पक्खवित्ता अणुजाणउ मे भयवं ति कट्टं समणं भगवं महावीरं अब्बाबाहं अब्बाबाहेणं करयल संपुडेणं गिह्वइ, गिह्वत्ता जेणेव खत्तिय कुंडग्गामे नयरे, जेणेव सिद्धत्थस्स खत्तियस्स गिहे जेणेव तिसला खत्तियाणी, तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता तिसलाए खत्तियाणीए सपरिजणाए ओसोवणिं दलइ, असुहे पुग्गले अवहरति, सुहे पुग्गले पक्खवइ, समणं भगवं महावीरं अप्पाबाहं, तिसलाए कुच्छिसि, गम्भत्ताए साहरति । जे वि य णं से तिसलाए खत्तियाणीए गम्भे तं वि य णं देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए कुच्छिसि गम्भत्ताए साहरति ।

×

बासीइराईदिएहिं विइक्कंतेहिं तेसीइमस्स राईदियस्स अंतरावट्टं माणस्स ।”

“The angel comes to the house of Rishavdutt, Brahmin and Devananda Brahmini in the city of Kundgram. Overseeing Lord Mahavira in the womb of Devananda, the Angel reverently salutes him. Thereafter, he hypnotises Devananda and her family in to deep sleep²⁰ Then he proceeds to remove the infectious elements²¹ from the surrounding and introduces antiseptic elements²² all over. Then the Angel seeks symbolic permission, from the Lord in the womb to perform the transfer. Thereafter, he excises and penetrates Devananda's body and takes out the micro being in the embryo from Devananda's womb and holds it in the hollow of his palms.²³ He then flies to Khastriya colony of the Kundgram city and comes to the House of King Sidhartha and Queen Trishala. There he hypnotises Trishala and her family into deep sleep, repeats the process of removing the infectious elements from the surrounding and introducing antiseptic elements all over. Then he takes out the micro being from Trishala's embryo and replaces it with Lord Mahavira's micro being in such a manner that it does not cause any pain to the mother. He then flies to Brahmin colony and replaces Trishala's embryo in Devananda's womb with the same care. The day this operation was performed was the 83rd day after the Lord descended in Devanda's womb.”

The distinguishing features of this 'Kalpa-Sutra' narration are :—

(a) The reverence shown by the expert Angel to the Lord in the

womb before beginning the operation by greeting him with Pranam and seeking the permission for the operation is unique and speaks highly of Indian culture and respect for the theory of Rebirths.

- (b) The expert hypnotises the patients (the mothers) into deep sleep before the operations. We may compare this with the Anaesthesia used in clinical operations these days by Surgeons.
- (c) He also hypnotises other family members as well. I have not been able to comprehend the idea behind it because no human could see a celestial being performing such operation.
- (d) He then sterilises not only the patients body or parts thereof but the whole surrounding by two different processes—
 - (i) By removing the infectious or virus element²³ and
 - (ii) By introducing antiseptic elements²³ in the whole surrounding. This may be compared with the process of sterilisation applied in various forms these days.
- (e) He takes out the embryo without causing any pain to the mothers and holds it in the hollow of his folded palms.
- (f) He travels from Brahmin colony of Kundgram to Khatriya colony of Kundgram, two different localities of the city with embryo in his hands.
- (g) He repeats the hypnotising process of deep sleep and sterilisation.
- (h) He exchanges the embryo in such a manner that no pain is caused to the mother.
- (i) The Angle again travels to Brahmin colony of the city and replaces the embryo in Devananda's womb.
- (j) The transfer took place on the 83rd day after impregnation which in itself is still a challenge the Modern medical science.

The episode of Lord Mahavira's birth raises many a eyebrows. Some even question the operations possibility and authenticity in that age i.e. 5th Century BC. In spite of the details given in the ancient texts, it also leaves many a questions un answered. Historicity of Mahavira has long been established but the authenticity of such episodes could still be challenged. This challenge is fueled by the religionistic zealots themselves. In Jains, there are several sects. The most ancient are Svetamber and Digamber. The scriptures followed by both sects are almost identical but their texts vary in several details. The texts followed by Digamber sect do not contain any reference to the Embryo-Transfer episode. Mahavira has been mentioned therein to be the son of Trishala, the Khsatriya Queen.

There is no mention here of Devananda, the Brahmin mother of Mahavira.

With a sociological twist one may interpret the whole episode differently. Those were the days of feudal Kingship. The King supreme owned many a queens and in the palace there were concubines from every strata including Brahmins with whom the King frequently had sexual relations. The son born to a Brahmin concubine could found favour with the King linking the son's parentage to the King and the queen for the outside world.

The purpose of this article however is only to bring to light a mystical operation of a highly developed Embryo and its transfer from one female womb to another female womb performed nearly 2600 years ago. The medical world will certainly appreciate the several features of this operation. The description and details as mentioned in the ancient scriptures can not be brushed aside as wholly imaginery. After all Imagination is also relative in certain ways to some well known physical phenomenon. May be some of the details are missing or the author might not have been able to explain them throughly. The most crucial aspect being the taking out of the embryo or its micro form from the woub without the aid of any mechanical instruments and replacing the same with another without causing any pain to the patient, the mother or any damage to the embical chord. And that too when the embryo is 83 days old. A feet par excellence. How the Embryo could be reduced to micro form and how it could be taken to a distant place in bare folded palms²⁴ are some of the aspects not fully explained. The Modern Medical science may some day develop such devices which may succeed in deciphering this ancient parable. □

'Mr. Bhutoria has successfully drawn the attantion of the gynaecologists & the people dealing in Embryogeny or Embryography. He has narrated stap by stap description of the Operation and the preaching of Lord Mahavir in form of questions and auswers of the transferred Embryo.

We have also written a note on the subject published in Monthly magazine—Jain Bharati (39.3) for the month of March, 1991 : गर्भापहार घटना का वैज्ञानिक महत्त्व (Pages 147-148) and quoted some more references from Mahabharat and other famous works of Indian origin'.

—Editor

Reference :

1. आगम
2. आचारंग सूत्र
3. गाथा
4. भावना चूलिका
5. व्यंतर देव
6. च्यवन
7. जीव
8. क्षत्राणी
9. पट्टधर
10. गणधर
11. शतक
12. उद्देशक
13. गाथा
14. जाति स्मरण ज्ञान
15. अवधि ज्ञान
16. देवलोक
17. देवेन्द्र
18. भारत
19. कुल, वर्ण
20. अस्वापिनी निद्रा
21. संपुट
22. अशुभ पुद्गल
23. शुभ पुद्गल
24. संपुट

—Shri Mangilal Bhutoria
7, Old Post Office Street
Calcutta —70 0001

THE JAINA TIME-CYCLE AND THE COSMIC CALENDAR

● *Muni Nandighosh Vijay*

Since the development of his thinking faculty, man has been tirelessly trying to find solutions to the questions of the form and origin of the universe. Whether the attempts are spiritual or scientific, everyone ultimately wants to know the laws and secrets that governs the universe. It is difficult to know the secrets with scientific methods. The great sages of the past, have known them with spiritual methods and have put them before us. But under the influence of the present times and the western civilization, we hesitate to believe them as to be true. The absolute truth is beyond the bounds of time and space. Time does not make even a scratch on it, let alone a deep mark. On the contrary, backed in the oven of time, absolute truth becomes very ripe. Such are the doctrines of Jainism, ripened by being baked in the oven of time. They have passed through various tests.

Since the origin of the branch of atomic physics and the branches establishing relations of time, space, matter and its energy, among various branches of science and since decades prior to it, the question of origion and destruction of the universe, and matter-accumulation of the universe has always been confusing and various theories have been put forth for them. Of all these theories, the *Big Bang Theory* has got the greatest acceptance. Though the Jain religion partially believes in the Big-Bang-theory, it does not believe in the presentation that scientists make of it.

There is a great similarity between the duration of time of the origin of the sun, of the earth, of the living world, of human beings etc. following Big-Bang, as determined by *Carl Segan* according to the belief of scientists and the time-cycle mentioned in Jain scriptures. Though the durations are almost equal, the differences of incidents and circumstances are great. According to the Jain doctrine the sun, the earth, the living world or living beings and the human world or beings are not originated from nothing i.e. they are not newly created. But the modern science believes that they are born a new and in the evolution of the universe and world or earth,

Tulsi-Prajña, Ladnun : Vol. 23 No. 4

first one-celled or unicellular micro-organisms then multicellular organisms and gradually other higher insects, the monkey and then man was born. This is completely an illusion and untrue.

First of all, let us see the cosmic calender of Carl Segan. Mr. Carl Segan divided the time between Big-Bang and the moment of destruction of the whole universe (pralayakala) into 12 months and 365 days. The Big Bang occurred on the first day of January and Carl Segan gives as under the account of incidents that followed.

- | | |
|---|----------------|
| 1. The Big-Bang— | January, 1. |
| 2. The creation/formation of the milky way -- | May, 1. |
| 3. The creation of the Sun.— | September, 9. |
| 4. The creation of the earth— | September, 14. |
| 5. The beginning of life on the earth— | September, 25. |
| 6. The oldest rock were formed on the earth— | October, 2. |
| 7. Fossils formed— | October, 9. |
| 8. Formation of sex organs of generation among micro-organisms— | November, 1. |
| 9. Development of living cells— | November, 15. |
| 10. Oxygen in atmosphere on the earth— | December, 1. |
| 11. Ditches at high temperature on the Mars were formed— | December, 5. |
| 12. Insect were born— | December, 16. |
| 13. Fishes were born— | December, 19. |
| 14. Birds were born— | December, 27. |
| 15. Gigantic mammals were born— | December, 30. |
| 16. Man was born— | December, 31. |

Now follows the interesting account. After man was born on December 31, the time of incidents is shown in hours, minutes and seconds as under :—

- | | |
|--|--------------------------------------|
| 17. Man was born at | 10-30 p.m. |
| 18. Stone instruments and weapons began to be used at | 11-00 p.m. |
| 19. Farming invention at | 11 hours, 50 minutes and 20 seconds. |
| 20. Buddha was born at night at | 11-59-55. |
| 21. Jesus was born at night at | 11-59-56. |
| 22. Invention of Zero in India at | 11-59-57. |
| 23. The renaissance in Europe and the experimental method in science, originated at night at | 11-59-59. |
| 24. The progress of technology, the invention of weapons to kill mankind, the beginning of the universal civilization and the beginning of space flight—now and at the first second of the new year. | |

This is the ultra-modern cosmic calender, made by Dr. Carl Segan, the top-rank scientist of the world and approved by other high rank scientists

According to the chart given in the book '*Origin Of Species*' written by Charles Darwin and published recently in 1979 A.D. 'cosmological' incidents can be shown as under :

1. Nearly 5 thousand million years ago—The Big-Bang and separation of the earth,
2. Nearly 4.6 thousand million years ago—the crust of the earth was formed.
3. Nearly 3.5 thousand million years ago—Life began and bacteria were produced.
4. Nearly 1.7 thousand million years ago—Oxygen was produced in the atmosphere.
5. Nearly 70 crore years ago—Production of multicellular living beings, earth-worms and their fossils.
6. Nearly 57 crore years ago—Production of fossils of many kinds of invertebrate animals for the first time.
7. Nearly 52.5 crore years ago—Production of fishes.
8. Nearly 38 crore years ago—Production of insects.
9. Nearly 36 crore years ago—Production of frogs etc. i.e. amphibians i.e. animals moving on earth and in water.
10. Nearly 28 crore years ago—Production of reptiles etc. i.e. snake etc.
11. Nearly 22 crore years ago—High-level and final-stage development of reptiles and production of dinosaurs.
12. Nearly 21 crore years ago—Production of mammals.
13. Nearly 13 crore years ago—Control of dinosaurs i.e. Dinosaurs as a dominant and prominent animal.
14. Nearly 7 crore years ago—Utter destruction of dinosaurs.
15. Nearly 5 crore years ago—Development of mammals.
16. Nearly 1 crore years ago—Production of hominids for the first time.

Such durations of time as are mentioned above are shown in Jain cosmology also, These are described in ancient Āgams i.e. Jainā

canonical scriptures and other treatises. They are as under : According to Jaina doctrine the time-cycle has two main divisions called utsarpiṇi and avasarpīṇi in Jaina-terminology. The avasarpīṇi-kāla is the time of our modern cosmic calendar. The avasarpīṇikāla has six sub-divisions called āraṣ, spokes of the wheel of time i.e. era or epoch. According to Kalpasūtra, a Jaina canonical scripture, the first spoke (āra) is called suṣama-suṣama and its duration is of four kodakodi ($4 \times 10,00,00,00 \times 10,00,00,00$) i.e. 4×10^{16} sāgaropamas (ocean-measured periods of time). One sāgaropama is equal to 10^{15} palyopamas (glass measured periods of time). In short the duration of time of the first i.e. suṣama-suṣama āra is equal to 10^{29} palyopama years. Palyopama is the smallest of big units of time. The number of years in a palyopama is certain but not clearly understood and cannot be shown in figures. Even in Āgams and other scriptures say that a palyopama has innumerable years. This is, therefore, a matter for further research. The second āra (spoke of time-wheel) is called suṣama. Its duration is of 3×10^{29} palyopamas. The third āra is called suṣama-duḥṣama and it has 2×10^{30} palyopama years. The fourth āra is duḥṣama-suṣama. It has a duration of 42000 years less 1×10^{30} palyopama years. The fifth āra is called duḥṣama. It has only 21000 years. The sixth āra is called duḥṣama-duḥṣama. It also has 21000 years. Thus, the total duration of avasarpīṇi is of 10^{30} palyopama years. Reverse is the order of utsarpiṇi. Both together make a time-cycle of 2×10^{30} palyopama years.

Non-Jain books of Indian culture also give a similar description of time. The *Manusmṛiti* and its commentators divide the life-time of the cosmos i.e. universe into four divisions, namely, *kṛta*, *tretā*, *dvāpara* and *kali*. There is *sandhyā* in the beginning and *sandhyāṅśa* at the end of every epoch

- kṛta* —sandhyā 400 years, the main division 4000 years, sandhyāṅśa 400 years
tretā —sandhyā 300 year, the main division 3000 years, sandhyāṅśa 300 years
dvāpara—sandhyā 200 years, the main division 2000 years, sandhyāṅśa 200 years
kali —sandhyā 100 years, the main division 1000 years, sandhyāṅśa 100 years

According to the commentators, this number is of heavenly years and each year in heaven is as long as 360 years of man (human/years on earth). All these four epoches make a *devayuga* and 1000 devayuga make a Brahma's day.

The calculation of Jaina doctrine and the culculation of the first chapter of the Manusmṛti, shown above are both almost alike.

The only difference is that the total number of years of the fourth, the fifth and the sixth aras, counted jointly are 1 kodadodi sagaropamas. The number of years of kaliyuga is equal to 100 years of sandhya, 1000 years of main divisions, and 100 years of sandhyāṅśa.

According to the Jain religion there are 63 excellent men. Their life history has been written and are available even today. Their birth-time etc. are important for Jaina scriptures. Of them 24 tirthankaras are chief. Their birth, death etc. occur at definite intervals of time. The importance is therefore, given to their birth etc. in Jaina scriptures. We shall, therefore, regard them as illustrations for the purpose of time-durations of incidents in the time-cycle and with reference to the length of the body, life-span etc. contemporary men. Out of these 24 tirthankaras, 23 tirthankaras were born in the last and first 1×10^{16} sagaropamas of the avasarpīṇi and utsarpīṇi respectively while the first tirthankara in avasarpīṇi, and last tirthankara in utsarpīṇi were born before and after some crore years from them.

A circle has 360 degrees, in all. The time-circle also has 360 degrees. Each degree is divided into 60 minutes. Again 1 minute is divided into 60 seconds, further second is also divided into sub seconds, microseconds etc. and incidents are shown with reference to the time of their occurrence. First 180 degrees of time-cycle mention utasarpīṇi and later 180 degrees of time-cyle mention avasarpīṇi.

00°-00'-00''-01''—Very difficult circumstances of life, underground residence of human beings and animals, gradually obtained slight improvement in auspicious colour, smell, taste and expansion in life-span and construction of bone-joints (samghayaṇa), Fully non-vegetarian human beings. The first spoke (epoch) of time-wheel.

00°-00'-00''-45''—Generally miserable life, continuous rain of water, milk and nector for the first seven-seven days, creation of proper atmospher, production of plant life, coming out of human beings and animals from their underground residence, human beings becoming vegetarian, end of the first grā and beginning of the second grā.

00°-00'-01''-00''—End of the second grā, intellectual development of people gradual expansion of body and life-span.

- 00°-00'-02''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation (śasanakṛā) of the first, second, third, fourth and fifth Tīrthankaras.
- 00°-00'-03''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the sixth and seventh tīrthankaras.
- 00°-00'-04''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the eighth tīrthankara.
- 00°-00'-05''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the ninth tīrthankara.
- 00°-00'-07''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the tenth tīrthankara.
- 00°-00'-10''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the eleventh tīrthankara.
- 00°-00'-15''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the twelfth tīrthankara.
- 00°-00'-30''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the thirteenth tīrthankara.
- 00°-00'-50''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the fourteenth tīrthankara.
- 00°-01'-30''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the fifteenth tīrthankara.
- 00°-03'-30''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the sixteenth tīrthankara.
- 00°-07'-00''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the seventeenth tīrthankara.
- 00°-15'-00''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the eighteenth tīrthankara.
- 00°-30'-00''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the nineteenth tīrthankara.
- 01°-00'-00''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the twentieth tīrthankara.
- 03°-00'-00''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the twenty-first tīrthankara.
- 05°-00'-00''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the twenty-second tīrthankara.
- 09°-00'-00''-00'''—Birth, nirvāṇa and duration of dispensation of the twenty-third tīrthankara.
- 18°-00'-00''-00'''-01''''—Birth of the twenty-fourth tīrthankara and beginning of the fourth arā of 2×10^{16} sāgaropamas.
- 18°-00'-00'-00'''-50''''—Dikṣā (initiation), attainment of omniscience, nirvāṇa and end of dispensation of the

- twenty-fourth tīrthankaras and beginning of kulakaras.
- 18°-00'-00''-01'''-00''''—The end of kulakara-tradition and the beginning of the yugalika (twins) tradition.
- 54°-00'-00''-00''''—The end of the fourth āra of 2×10^{14} sāgaropamas and the beginning of the fifth āra of 3×10^{14} sāgaropamas.
- 108°-00'-00''-00''''—The end of the fifth āra of 3×10^{14} sāgaropamas and the beginning of the sixth āra of 4×10^{14} sāgaropamas.
- 180°-00'-00''-00''''—The end of the last and sixth āra of utsarpiṇi and the beginning of the equally long (intime duration) first āra of avasarpiṇi.
- 252°-00'-00''-00''''—The end of the first āra of 4×10^{14} sāgaropamas of avasarpiṇi and the beginning of the second āra of 3×10^{14} sāgaropamas.
- 306°-00'-00''-00''''—The end of the second āra of 3×10^{14} sāgaropamas and the beginning of the third āra of 2×10^{14} sāgaropamas.
- 341°-59'-59''-30''''—Beginning of the tradition of kulakaras.
- 341°-59'-59''-59''''-05''''''—Birth of Śri Ādinātha, the first tīrthankara.
- 341°-59'-59''-59''''-56''''''—The first tīrthankara's dikṣā (initiation) and attainment of omniscience.
- 341°-59'-59''-59''''-59''''''—The nirvāṇa (death) of the first tīrthankara, Śri Ādinātha.
- 342°-00'-00''-00''''—The end of the third āra and the beginning of the fourth āra.
- 350°-59'-59''-56''''—Birth, dikṣā and omniscience of the second tīrthankara, Śri Ajitanātha.
- 350°-59'-59''-59''''—Nirvāṇa of the second tīrthankara.
- 354°-00'-00''-00''''—Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the third tīrthankara Śri Sambhavanātha.
- 356°-00'-00''—Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the fourth tīrthankar Śri Abhinandan swami.
- 357°-10'-00''—Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the fifth tīrthankar Śri Sumatinātha.
- 358°-05'-00''—Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the sixth tīrthankar Śri Padmaprabhu Swami.
- 359°-00'-00''—Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the seventh tīrthankara Śri Suparṣwanātha.
- 359°-45'-00''—Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the

- eightth tirthankara Śri Chandraprabha Swami.
- 359°-53'-00'' —Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the ninth tirthankara Śri Suvidhinātha.
- 359°-56'-30'' —Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the tenth tirthankara Śri Śitalanātha.
- 359°-58'-30'' —Birth, dikṣā omniscience and nirvāṇa of the eleventh, tirthankara Śri Śreyāsanātha.
- 359°-59'-10'' —Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the twelfth tirthankara Vāsupujya Swami.
- 359°-59'-30'' —Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the thirteenth tirthankara Vimalnātha.
- 359°-59'-45'' —Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the fourteenth tirthankara Anantanātha.
- 359°-59'-50'' —Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the fifteenth tirthankara Śri Dharmanātha.
- 359°-59'-53'' —Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the sixteenth tirthankar Śri Śantinātha.
- 359°-59'-54''-30''' —Birth, dikṣā omniscience and nirvāṇa of the seventeenth tirthankar Śri Kunthunātha.
- 359°-59'-57''-00''' —Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the eighteenth tirthankar Śri Aranātha. and Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the nineteenth tirthankara Śri Mallinātha.
- 359°-59'-58''-30''' —Birth, dikṣā, omniscience and nirvāṇa of the 20th, 21st, 22nd, 23rd and 24th tirthankaras.
- 359°-59'-58''-31''' —Beginning of the fifth āra of 21000 years.
- 359°-59'-58''-40''' —Origin, development and destruction of the modern science.
- 359°-59'-59''-30''' —The end of the fifth āra and the beginning of the sixth āra. Disturbance in atmosphere. Falling of the sun's ultraviolet rays directly on the earth. Human beings and animals going underground and destruction of plant life (kingdom). Extremely difficult circumstances of life.
- 360°-00'-00''-00''' —The end of the sixth āra and again beginning of utsarpiṇi.
- (000°-00'-00''-00''')

By comparing the two tables given above, one can see that the beginning of the evolutionary period of Darwin's theory marks the beginning of the first āra of the avasarpīṇi part of the time-cycle of

the Jain scriptures. The beginning of formation of the earth marks the beginning of the second āra. The time of beginning of life and production of bacteria marks the beginning of the third āra and the production of oxygen in atmosphere marks the beginning of the fourth āra of 1×10^{14} saharopamas

Modern science does not believe that life existed on earth before the time mentioned above because the lowest of the layers of fossils and other fossils discovered during excavation of the earth belong to a time subsequent to the time mentioned above. Rocks (fossils) of earlier times are not discovered. The reasons for this can be given as under on the basis of the Jaina scriptures, the Bṛhatsaṃgrahaṇi, the kṣetrasaṃsā, the Pravacanasāroddhāra etc.

The human life and life of beasts on the earth during the first, second and third āras of avasarpinī were quite independent of each other. Men and women among human beings and males and females among animals were born together, become young together, enjoyed together and gave birth to a pair of twins (yugal). They nourished the twin (yugal) for a few days and then made it free. They died together. They had only slight spiritual blemishes (Kaṣāyas) and only a slight desire of sexual pleasures. They were almost devoid of anger, pride, illusion, greed and infatuation. They never quarrelled or fought. They never died a premature death. Human beings and beasts had few needs which were supplied by kalpavṛkṣas (desire-yielding trees). For all these reasons the sword (asi) i.e. war, ink (masi) i.e. writing and farming (kṛṣi) had not come to be used. In those days nobody knew plants and no science of plants, history of plants, kinds and uses of plants existed. But it does not mean that plant kingdom and animal kingdom had not at all developed in those days. Also, natural calamities perhaps befell subsequently in the avasarpinīkāla. Fossils inform of ruins were, therefore, perhaps formed subsequently.

In short, a fully natural life was lived during the first three āras.

The cosmic calendar has only one division, which is called the period of evolution. In view of intellectual, physical and scientific circumstances of the human society, it is called evolution. While the Jaina-time-cycle has two chief divisions-utsarpinī and avasarpinī. The Jaina Scripture entitled Bṛhatsaṃgrahaṇi states that in utsarpinī, there is a gradual development of physical strength, height, life-span, spirituality etc. and bad tendencies of all living beings subside. Contrarily, in avasarpinī, physical strength, height, life-span etc. diminish and spirituality deteriorates. Bad qualities such as anger,

jealousy, pride etc. come into power i.e. become Prominent.

Modern science and its ecological and geological evidences support these observations. The ruins inform of fossils of dinosaurs of many years ago, bear witness to their gigantic size. The American science magazine, called 'Discover' also states that the ruins inform of fossils of birds with the length of 11.5 feet and with wing of the expanse of 23 feet, have been discovered. According to the Jaina terminology, this dinosaur is a one type of reptiles. The mongoose, the squirrel, the house—lizard etc. belong to this class of animals. As stated in the 'Jivavicāra Prakaraṇa' written by Ācārya Śrī Śantisūriji in the twelfth century of Vikrama Era and in the 'Jivābhigama', the Paṇṇavaṇa' and other Jaina canonical scriptures written earlier by the year 450 A.D., the largest size of these living beings is of the length 2 to 9 gaus (1 gau=3.2 kms). It is estimated that this dinosaur is 80 feet in height and 150 to 175 feet in length. According to science, dinosaurs are of different kinds, different sizes and different peculiarities. They belong to the mesozoic period. According to the present calculation, dinosaurs lived perhaps nearly seven crore years ago. But the Jaina scriptures mention quite a different calculation. A dhanuṣya (bow) is equal to six feet and the length of a dinosaur is nearly 25 dhanuṣya (bow). Supposing that the length of a dinosaur was equal to one-third of the height of man, when man was 75 dhanuṣya (bow) tall, the dinosaur was 25 feet long. Man's height in the interim of the times of the eleventh tīrthankara Śrī Śreyāsaṅgṭh and the twelfth tīrthankara Śrī Vāsupūjyaswami was nearly 75 dhanuṣya. Therefore, it can be said that the dinosaur belonged to that period. According to another calculation, when man was 3 gaus in height (1 gau=3.2 kms) the reptile was 2 gaus in length. Therefore, when man was 1 gau tall, the reptile was $\frac{2}{3}$ gau long and when man was 500 dhanuṣyas tall in the times of Bhagawāna Śrī Ādinātha, the reptile was 333 dhanuṣyas long. This means that when the dinosaur was 25 dhanuṣyas long, man was 37.5 dhanuṣyas tall and man had this height in the interim of the times of Śrī Śanti-nātha, the Sixteenth tīrthankara and Śrī Kunthungṭha the seventeenth tīrthankara. It, therefore, does not at all seem to be improbable or impossible that the existence of the dinosaur belongs to the period beginning before nearly 47 saḡaropamas and ending before nearly at least three saḡaropamas. According to the cosmic calendar, the gigantic dinosaur was born on the 30th December and the Jaina-time-cycle shows nearly the same. It coincides with the 30th December of the modern cosmic calendar because 365 days of the

cosmic calendar are equal to 180 (180°-00'-00"-001''' to 360°-00'-000''') of Jaina-time-cycle.

Moreover, the methods of modern scientists for deciding the life-span of archaeological objects is faulty according to the calculations of the Jaina time-cycle and it is natural to be because according to the Jaina scripture, *Bṛhatsamgrahaṇī*, the speed of transformation of objects decreases as time passes in utsarpiṇī i.e. first half of the Jaina time-cycle, and the speed of transformation of objects increases as time passes in avasarpiṇī i.e. later half of the Jaina time-cycle. The Jaina scriptures also give evidential proofs for this. The life-span of human beings varies from 16 to 20 years and they are nearly 1 hand (1.5 feet) tall in the beginning of utsarpiṇī. When the first *ārā* of 21000 years and the second *ārā* of 21000 years come to an end, their height varies from 5 to 6 hands and their life-span is nearly of 80 years. As time passes, the transformation becomes slower and slower. It is illustrated as under.

After a lapse of the first fifty million million *Sāgaropama* years of the utsarpiṇī, the life-span rises from 20 years to nearly 72 hundred thousand *pūrva* years (1 *pūrva* = 7056000,00,000 = 70.56×10^{12} years) and the height rises from 1 hand to 450 *dhanuṣyas* (bow). But after lapse of the next 50 million million *sagaropama* years, the life-span rises only to 84 hundred thousand *pūrva* years and the height rises from 450 *dhanuṣyas* to 500 *dhanuṣyas*. Similarly, at the end of the fourth *ārā* having 2×10^{14} *sāgaropama* years of utsarpiṇī, the life-span rises to nearly 1 *palyopama* years and height rises to one *gāu* and at the end of the fifth *ārā* of utsarpiṇī, the life-span rises to nearly 2 *palyopama* years and height rises to two *gaus*. The fifth *ara* is 3×10^{14} *sagaropama* years long. At the end of the sixth *ārā*, having 4×10^{14} *sagaropama* years the life-span is of three *palyopama* years and the height is of three *gaus*. Jaina scriptures mention that in each period (*ārā*) of 2×10^{14} *sagaropama*, 3×10^{14} and 4×10^{14} *sagaropama* years, life-span rises by one *palyopama* years and height rises by one *gāu*. Similarly, life-span and height decreases in avasarpiṇī, the later half of the Jaina-time-cycle.

Today on the basis of radiation of radioactive element of archaeological objects, scientists can say how old the objects are. But according to what has been stated above, compared to the rate of radiation of radioactive element from those objects today, the rate of radiation of radioactive element of those objects perhaps low a few years ago and it was perhaps extremely low many more years ago. But without taking this into account, we work out the time of

radiation of the past and, therefore, there is all possibilities of errors. e.g. An archaeological object would perhaps have previously taken fifty years to emit as much radiation as it emitted during the last five years and it would have perhaps still previously taken 5000 years to emit as much radiation as it emitted during the fifty years. I, therefore, suggest that more research work should be done on this subject and on this method. Then we shall come nearer to reality.

The basic difference between the modern cosmic calendar and the Jaina time-cycle is that in the cosmic calendar everything happens a new after utter destruction of the universe and suddenly animals of gigantic size are created and bacteria and viruses are believed to be their origins/sources. But according to the Jaina time-cycle, all sorts of insects, animals and plants always exist and they develop in favourable circumstances. The size of their body increases in utsarpipi and decreases in avasarpipi. Plants are produced by plants and plants of particular species produce plants of the same species. Unicellular Plants produce unicellular plants and multicellular plants produce multicellular plants. There is no cross production between unicellular plants and multicellular plants.

At the time of destruction of the earth, animals and human beings are preserved underground in sleeping, oval and manifest forms. These animals and human beings cannot bear the temperature of the time of destruction of the earth. But later on when the atmosphere becomes normal and the temperature becomes tolerable, they come out from underground and begin to develop themselves. Animals procreate animals of their own species. We cannot, therefore, say that in course of development of one species of animals procreate other species of animals. Some scientists believe that animal-cells were produced from plant-cells and some other scientists believe that plant-cells were produced from animal-cells. But all these beliefs are ultimately based on inferences. It is possible that reality is quite different from all these inferences of scientists.

In short, Indian scientists belonging to different branches of science such as geology, physics, biology, atomic physics, geography, astronomy etc. should make a deep study of ancient Indian philosophical and other books and do research work on the basis of it. It is the need of the day. If this is done, India will be able to make a very valuable contribution in this field of science. □

‘This thought-provoking article needs reading with patience. Munishri narrates the subject with utmost simplicity but the study of cosmology and the play between organism & environment is the dark chaotic dullard, who knows the meaning of nothing noble’.

—Editor
—Muni Nandighosh Vijay

NEW HORIZONS OF THINKING

(Gurudev Tulsi on Non-Violence)

Gurudev Tulsi was a personality endowed with an endless treasure of original thinking in various domains of knowledge. His thinking and writing is multi-faceted and not much of significance has been left untouched by him. His wide sweep of wisdom continued to shed light on all nooks and corners of society which so far lay hidden from general view.

His mental horizons were so all-encompassing that it is almost impossible to encapsulate them all in this small resume. We, take up, therefore, only one theme i.e. Ahimsa (Non-violence), wherein he set in motion a process of original thinking. We shall try to give here only a limited evaluation of what he has said, written or instructed on the subject. The idea is to provide stimulation to research scholars who may want to do further in depth research on the subject.

Philosophy of Non-Violence

Non-violence is the key to life as it prevails in nature. It transcends the confines of "Desh & Kal" (place and time), as was conceived by our Rishis & Munis of olden times.

Ahimsa is a complete concept, an indivisible whole that cannot be partialised in terms of countries, cultures and times.

Lorn Mahavir has said "Wise is he who practises Ahimsa and does not inflict violence on anybody. A person who has composed even crores of poems, is not wise, if he is committing violence in some way or the other"

As a matter of rule, Ahimsa (non-violence) normally is the way of life of great men. Some of them not only live out a non-violent way of life themselves but also inculcate the culture of Non-violence in the whole of society and leave an indelible imprint on the pages of history. In this context, none can ignore Gurudev Tulsi who did so much to mould human conscienceness towards a Non-violent way of life. The quantum of his contribution to the subject could be assessed from about 200 articles found in the published books.

The famous literary person, Yash Pal, wrote about Gurudev Tulsi that though there was no worldly power with him, he was

Tulsi-Prajñā, Ladnun : Vol. 23 No. 4

still blowing the bugle of Non-violent revolution. While Vinoba, another great man in the field, had, towards the fag end of his life become an introvert ascetic, Gurudev Tulsi, even in his eighties, was still on the move to make man a better human being. From every iota of his existence, it looked as if the creed of non-violence was being radiated. Even in most difficult situations, the idea of violence never cropped up in his mind, it was as if, beyond the orbit of his thinking.

With the advent of Independence, he started his famous Anuvrat Movement and the grateful nation in acknowledgement, honoured him with Indira Gandhi Prize in 1993.

Dedicating his prize to the nation he said, "I want from my whole Sangh and nation that unity and goodness should prevail and all disputed items be settled through Non violent means". His optimism was evident when he said, "People ask me if my efforts will transform the whole world into Non-violent? and I reply to them that till the present day, no period has ever occurred in human history when the whole mankind turned Non-violent. Still the efforts for it have been going on continuously to spread the cult and thinking. Today we also are doing the same, but we can never dream in terms of encompassing the whole world, such idea is an utopian one, though entertaining the dream is very pleasing. On the practical side, we will deem it a success even if only a small percentage of people get initiated into the non-violent way of living."

In organising a non-violent society, how original and inspiring his proposition are is evident from his saying. "If non-violent way of life and dharma is not getting initiated with the needed strength it is because of the fact, as is commonly observed, two thieves or dacoits can join in a joint venture, but not two saints or seers. This is my firm belief that the amount of time, energy and resources that have been expended on the propogation of violence, if spent on the propogation of non-violence, would have brought about amazing results, and the day this realization dawns on humanity, it will be a day of resurrection of the human kind.

For the teaching of and training for Non-violence, three International conferences have been organised; 1st in Dec., 1988, 2nd in Feb., 1991 and third in Dec., 1995. The objects of these seminars were to discuss and find out means for meeting the problem of violence plaguing humanity. In providing a small but solid base for the purpose, these seminars were quite successful. These efforts created momentum for directing the human society towards constructive non-violent activities.

The Nature of Non-Violence

Indian culture is basically a religious culture. Indian seers and sages have always sung the songs of non-violence and that is our ideal—to give away to others and not to grab for ourselves, Non-violence is a permanent value with us. It is difficult to pin-point who was the first to discover this basic approach to life, but according to Gandhiji he who first enunciated this principle was at least as big a scientist as Newton and as big a hero as Wellington, if not bigger, in fact, my salute to him.

Lord Mahavir has called Non-violence a science of life. All Indian scriptures like Vedas, Upanishadas, Smritis, Mahabharat etc. are replete with various aspects of the concept (Non-violence) and still more can be said and expounded. The process is never ending. Gurudev Tulsi has tried to give it additional dimensions in the new environment of modern values.

His (Gurudev Tulsi's) thinking provides some fresh horizons not only in the context of Indian culture, but also in the context of western culture. Some of these can broadly be delineated as under. Ahimsa (Non-Violence) is :—

1. the realization of Sat (Truth), Chit (consciousness) and Anand (Bliss).
2. having oneness with all, to share and own the pain of all.
3. keeping mind, speech and action clean,
4. to have virtues tendencies in physical, mental and intellectual field,
5. to become fearless and thereby provide fearlessness to others,
6. to accept and suffer all pain and problems of life with equanimity,
7. to get rid of the outer attractions of life and secure development of self,
8. to do away with the pleasures of physical senses and envelope oneself in calm,
9. not to get disturbed by small things,
10. not surrendering to force, but to combat and stand up to tyranny non-violently,
11. not to be non-violent only towards others, but towards ourselves also.
12. doing all actions in the world without eye on the benefits accruing from it,
13. to merge one's consciousness in the cosmic consciousness and become one with it and that is the climax of Ahimsa.

This exposition of the postulates is a rare document on the subject that Gurudev Tulsi has produced.

A new Concept of Ahimsa :

The first Guru of Terapanth, Acharya Bhikshu, established some new concepts about Ahimsa. But unfortunately the then existing society could not digest those values and consequently he had to face opposition and struggle. Now Gurudev Tulsi has tried to present it in the new context. Some of the concepts are given below :

1. Pure Ahimsa is converting the heart to Non-violence without which some element of violence in some form or the other does remain present.
2. To believe that smaller ills are sometimes to be accepted for the bigger good is not Ahimsa. Ill or bad should not be accepted at all even in infinitesimal quantity.
3. To use violence even to convert/change one to non-violence is not permitted.
4. Ahimsa is not on a barter basis, that is "you be not bad to me, I will not be bad to you", but you have to be good and non-violent unconditionally, whatever the other does.
5. Ahimsa is basically to save one from mental degradation not a means to survival.

Who is non-violent (Ahimsak) ?

Who can be called non-violent is a point on which Indian Rishis/Munis have pondered a lot. Gurudev Tulsi has said that we will find people in big numbers who will praise non-violence, but only a few who will really understand it. That is why he has repeatedly said that the concept of non-violence has more to fear from its friends than from its foes. He has narrated his teachings on the subject as under :

1. He who welcomes the death on its approach with calmness, can be a true Ahimsak (Non-violent).
2. A non-violent person remains calm in all circumstances.
3. An Ahimsak refrains from killing even though having the power to kill.
4. An ahimsak sees the inner core of the thing and not the outer shell.
5. A true non-violent, even gives his own life to convert the opponent's heart to non-violence.
6. If an ahimsak is unable to face a violent person then he is not true Non-violent.

The below-noted seven points can be a parameter to judge, if one is non-violent or not : Whether one's life is dominated by :

1. peace and calm or anger
2. humility or ego
3. contentment or desires
4. Honesty or dishonesty
5. openness of mind or closed mindedness
6. cooperation or non-cooperation
7. bravery or cowardice

These parameters of Gurudev Tulsi show his all-grasping vision about the subject.

Different Forms of Violence

Violence is a spark, which turns into all-devouring fire quickly on finding a fertile ground. Gurudev Tulsi is of the view that killing only is not violence (Hinsa) and not doing that non-violence (Ahinsa). That would be a small-time vision of it. The roots of the problem to which Gurudev Tulsi has gone is not within the power of all. He sees violence in a very wide perspective. He says :

1. Any action done out of attachment or jealousy is violence.
2. Violence is not of and by sword only. Adulteration and exploitation is also violence. In brief, every uncontrolled passions of life is violence.
3. To exploit any body's labour is violence.
4. To thrust one's faith or ideas on any body is also violence, even if that is a religious action.
5. Just as killing is violence so is hesitating from self-sacrificing to stop some body's killing.
6. Not only destruction of property or phenomenon of "Gherao" is a violence but also the creation of circumstances leading to it.
7. War only is not violence, even if a women at home is creating family turbulence she is guilty of committing violence.
8. All steps taken under the effect of jealousy, enmity etc. also are violence, though they may not seem physically violent.

It is Gurudev Tulsi's belief that violence and mental degradation are co-related. Violence can exhibit itself in so many ways i.e.

1. Violence of self leads to self degradation and when exceeds certain limits, it will result in violence (Himsa).
2. Mostly there is a gap between what one says and what one does- this gap leads to self degradation, which is a form of violence.
3. To take any thing without the owner's permission is a form of

violence.

4. If after taking a vow of votal celibacy, the person is troubled by passions, this being degrading is a type of violence.
5. Even after taking total relinquishment—if the person remains involved mentally, this also is degrading and so a type of violence.
6. If a person entertains notions of his superiority and considers others as inferiors, this also is degrading and is a kind of violence.
7. In speech, language and knowledge if a person pretends to be on a higher place, then it is degrading and a violence of worst kind.

In Gurudev Tulsi's view, ego, dread suspicion, religious intolerance, communal madness etc. are fortifying factors for violence. He is clear in his mind that in certain circumstances violence may be necessary for life, but it cannot become the end object of life. The problem arises only when violence is taken as an end object in itself.

Violence is an anti-nature reaction, so it cannot become life value, because no average person can commit violence in perpetuity. In addition, the greatest drawback of violence is that it cannot become a firm guarantee. It has, so far in human history, proved futile in solving the problems of the world and therefore, even those who believe in violence as a cult, also, remain suspicious and in continuous dread. In spite of being totally non-violent Gurudev Tulsi's view point is a balanced one. He knows that it is not possible that all people can become hermits and sacrifice their interest, forget their differences and forgo violence, even if it is needed for life and living.

No other writer in the present century can compare with the strong voice that Gurudev Tulsi has raised against unnecessary violence. In his writings, he believes that all and sundry are worried on account of the violence of big wars, but in reality it is the cumulative effects of the small ordinary imperceptible violences, which matter more and produce big erupting violences. So, in His writings, He has tried to tear away the masks of violence to elevate human consciousness. In Arabian countries there is a game of entertainment for the rich-camel race. This becomes a cause of children's death. Most of the time Gurudev expressing his anger and resentment against it, says: "A fleeting entertainment on one hand resulting in small children's death, on the other hand is a boastful cruelty.

Is man becoming a beast ? We say that child is God's innocence, but sacrifice the same innocent creation of God this way, isn't this a kind of madness ? Mankind needs to be awakened against it."

In the 20th century, a new type of violence has come into being. Killing of female foetuses. For this he tries to educate the motherhood of its duties, asking, 'whether springs of mother's love have gone dry ? How else to describe the killing of a healthy would be female child ?, he asks, "isn't this the worst kind of cruel violence ? Human being is no longer sensitive to the life, that is why violence is spreading in the very vitals of the society. In olden times different natural herbs and spices were used as cosmetic aids, but today the cosmetic preparations are made out of blood and flesh of living animals. The cruelty exercised in the process is gruesome. No spiritual person will agree to its desirability, killing for saving life could have some justification, however flimsy and unacceptable, but killing merely for temporary vanity is the height of cruelty and degradation of human soul. But Gurudev Tulsi neither loses heart for his mission nor gets discouraged through this all-pervading violence and terror. "Whole world cannot turn non-violent", says he, "so we need not get disappointed and step back, we have to go on, with the efforts that world should not get overridden with violence and thus become uncontrollable". Right now violence is having an upper hand. To uplift mankind we have to reverse the trend or the day is not far off when our centres of culture, i.e., temples, maths, ashrams, all are going to be under attack of violence." To counter this problem of all pervading violence, he advises scientists to find out, in which part of the human brain does the violence as a thought process originate and what starts it pathologically. Because after identifying the origin can the original sources be controlled appropriately.

All scriptures of the world, generally, contain a touching account of the dire results of cruelty, violence : but Gurudev Tulsi, being a modern mind, does not only connect violence with hell itself, but also to awaken the man's inner urge, he provides a psychological path :

- (i) A violent person does not only harm other person, but harms his own inner and higher self also-degrades his own self.
- ii) We may and may not become the source of happiness and comfort for some body, but atleast let us not become the source of pain and unhappiness for any body. If we cannot help in removing pain, we can, at least refrain from inflicting pain.

Trying to stir the inner soul of terrorists who inflict mindless and useless bloodshed on innocents, he says—if you have to massacre

do it on your enemies hidden deeply in your soul, which have controlled you so badly as to make you immune from the feelings of sin, for what you are doing.

Field of Non-violence

The field of Non-violence is vast like the sky according to Gurudev Tulsi, Non-violence cannot be limited to family, society or nation. It covers everything, the whole living panorama. He further expands it by saying that there is no communality, no jealousy, no enmity in it (Non-violence). It is all embracing calm and peace which removes all narrowness. The world of Ahimsa shown by him is so large and expansive, that even if one is in opposition to or in disagreement with an idea, Ahimsa does not permit one to have a feeling of opposition or hate or ill will towards the other.

Power of Non-violence :

Non-violence has an immeasurable force, but what is needed is to give it the right direction. Gurudev Tulsi tries to make us understand through a simile : just as an earthen oil lamp is capable of piercing the darkness, similarly every step taken in pursuit of Non-violence will lead us to the destination of a non-violent humanity. But for those believing in the force of violence, it is difficult to fathom the force of Non-violence. It is so immeasurably large that it can only be experienced [not measured or described. To fortify his confidence he adds that if every leader, literary person, philosopher, writer, artist and poet starts espousing the cause of Non-violence, giving up glorifying the violence, then a non-violent revolution could be around the corner. His firm belief in it is reflected in his saying that if a person believing in violence comes near a real genuine non-violent person, the violent person's heart would change. But to achieve this result, there must be absence of dread and hate in the other person. This has been practised and demonstrated to an astounded world by another saint in our own country—Mahatma Gandhi in 1947 at Calcutta.

Establishing Non-violence :

Indian culture is permeated with it through and through. Lord Ram, Vardhaman Mahavir, Mahatma Buddha, Guru Nank, Kabir, Mahatma Gandhi are examples before us. In a culture so non-violent the infiltration of violence as a creed should be a matter of concern.

Every person wants Non-violence to be established. In national and international areas, the debate is on : Rajiv Gandhi and Gorbachev passed ten resolutions on the subject from time to time affir-

ming it. Gurudev Tulsi has a firm belief that even if violence may have reached its extreme, the creed of Non-violence will retain its relevance because it is a natural state of mind. Storm and turbulence may disrupt but cannot be permanent. He wants to jolt the human thinking by saying that the question is not to evaluate Ahimsa, but to establish it. He agrees that today is the testing period for the creed, but if Ahimsa provided solution to present-day problems, then it will establish itself by itself. To talk of establishing Non-violence without strengthening it is like talking of mythical 'Akash Kusum.' And for establishing it, he opines the invariableness of the change of heart and the training of mind. According to Gurudev Tulsi four things work as impediments in establishing of non-violence :

1. Practice of impure means
2. Lack of faith in Non-violence
3. Lack of experiments and training in it.
4. The degeneration of compassion.

It means that however ideal the object may be unless the intellect following it is not pure the ideal cannot be achieved. That is you cannot establish Non-violence by the means implying violence. Means are as important as end, pure end cannot be achieved by impure means. A blood-soaked cloth cannot be cleaned by blood itself-pure water is needed to do it.

The second impediment is the lack of faith in its efficacy. This is most important because unless you have complete and real faith in it, it is useless going after it. It amounts to dishonesty intent. Then the urge does not emanate from the heart and it is superficial.

The third impediment is lack of training in it. Howsoever good your intentions and firm your faith, unless you are trained in it, it is useless and nonproductive. For this you have to consider the following :

1. Every body notices the arms but, nobody tries to find out the urge of manufacturing and keeping it. The "why" of it.
2. Non-violence is related to the human urges and the natural environment accompanying it.
3. To see if the position of terror and violence has anywhere been met successfully with non-violence.
4. Have we taken non-violence to mean "Not killing" only or have we taken it with deeper implications.
5. It is said that in front of a genuine Non-violent person even a violent person loses his urge of violence, has it been verified to be a truth or a myth ?
6. There are various modes and methods of violence, how many of

these can be met with Non-violence ?

7. If traditions carry on with violence by arms, why is it not so with non-violence ? If on seeing an arms bearing person we are attracted to it, is it the same while seeing a Non-violent person ? if not, why not ?

If the fields related to such questions can be researched, he is sure that some new facts of Non-violence will emerge.

Fourth impediment is the development of self sacrificing spirit. A non-violent person does not think in terms of whether he will win, whether he will survive. Instead his language is; let all live; let all develop.

It can be summarised that till the brain and intellect is not trained, the remnants of violent thinking will persist there. Without removing those "Sanekars" (Previous memories), raising of slogans and organisation of seminars, will achieve nothing. If forces of non-violence organise and conduct research in these areas, there is no doubt non-violent way of life will settle with a primary.

Practice of Non-violence

In scriptures, pages and pages are abound in glory of non-violence—Ahimsa. In the present times, Gurudev Tulsi is respected as next Mahatma Gandhi, as the person who was trying to establish a non-violent order of life and society.

Though he lived a complete non-violent life, he was practical enough to realize and admit that all the problems of the world could not be solved by non-violence alone. But at the same time that also did not mean that it was weak or useless in itself. There is force in non-violence, but the ground for it needs leveling and preparing. Just as hollow ground does not produce anything, similarly without suitable preparation, non-violence alone will not produce much. He answers the question of where should it be practised in an innovative way. He says "I do not believe it is a matter of temple or mosque or gurudwara only. It should be practised in all aspects of the practical life, such as business and politics—the primary field of human activity.

In modern times, there is something lacking somewhere in its somewhere in its propagation or use, that it is not being so effective, perhaps one reason is that we expound its negative values only, perhaps through expounding its positive aspect, we can make it more practical.

To those, who consider non-violence as a useless creed, he says, "today violence commands arms power, training, press, experiment, huge finance for publicity etc., if the same amount of energy, time and resources were spent in expounding, propagating and training

for non-violence, the results would have been astounding. This world would have become a heaven. Since that has not been done so how can we compare the efficacy of the two? He in fact considers it a weakness in the followers of non-violence—that they have not organised themselves. But again it is so because nonviolent person see a danger of violence in organising non-violence. But he does not agree there, instead he believes that in organised manner, it gets polish, strength. He in fact suggests that a powerful non-violent army should be raised, but it should remain away from the effects and controls of politics, that is imperative. This force should have five factors, viz.—

- (i) complete surrender to its call of duty, to be prepared to lay down life for it.
- (ii) Force—there must be complete unity of purpose.
- (iii) organisation—it should be so well-organised that on a single call, thousands must come forward.
- (iv) Service—it should have a spirit of service.
- (v) Discipline—this army should be properly disciplined.

Non-violent Revolution

There have been revolutions in this world from time to time against injustice, tyranny and exploitation but the means not being pure, the ends also were never far reaching. Gurudev Tulsi sees permanency through non-violent resolution only. It is a mirage that violent revolution will produce equality and even if it does produce, it can never be permanent and at the bottom of it, turbulence and enmity will always be smouldering. By non-violent revolution he means—the means which is carried on without blood and iron. He is firmly of the view that a lasting revolution can only be produced through love and compassion; but, non-violent revolutionaries do not have as much faith in their system, as have the violence-believing revolutionaries. When and unless that faith is coming forth, it cannot substantiate much.

Social Nature of Non-violence

Non-violence is not a slogan only, it is a continuous philosophy of life. Ravages of time can dim its edges but cannot end it. It is not for the salvation of individual only, its usefulness is undisputed in all the fields and spheres of life. According to Gurudev Tulsi, non-violence is a security cover for the society, which protects and counters the attacks through the weapon of loser feelings like-hate, enmity, revenge, dread etc. etc. and can develop an atmosphere of peace, non-violence and friendship. He believes that in the short

run, the path of non-violence may be hard to traverse but ultimately only in this lies the salvation of society. Non violence is the force which has kept man from becoming a beast. Gurudev Tulsi has tried to make it a people's cult and movement "because" says he "the use of non-violence in social ethics is the foundation of morality. A person who cannot feel the friendship towards others, cannot be moral also". A simple proof to substantiate it is that despite the disparities of big and small in various forms in society, there still is peace and stability—otherwise if it were not so, a system of snatch and grab would have ensued bringing anarchy in its wake. The common saying that non-violence does not fulfill the needs of life and therefore cannot be a success, is full of pitfalls in social behaviour.

He (Gurudev Tulsi) preaches that man should not become unrestrained, neither should he start thinking of himself as above others in society and in the case of all these negative tendencies, non-violence can play and does play, in fact, a major restraining role. To counter the argument that without violence one cannot carry the normal duty of earning and living a life nor can one protect one self or one's property and life and honour, Lord Mahavir has said that you can start violence from that point onwards where non-violence becomes an impediment, but with the provision that you do not become cruel or aggressive.

Gurudev Tulsi advises average individual to follow the middle path. If violence is a mode of life, then non-violence is a need of pure life. Non-violence is a path for reaching the ideal when violence becomes a way of life, when it becomes a danger to society.

To create a non-violent society is a vision of Gurudev, he is on it through Anuvrat Movement for the last 50 years. On 22 April 1950, in a press conference at Delhi, he addressed himself to the problem and said that he wanted to create and develop a non-violent society and to destroy the collective violence, which is the cause of basic unrest and laid down certain don'ts for it.

1. Not to kill any person on account of caste, religion, community and social distinction.
2. Not to kill any innocent person and to have a feeling of oneness with all.
3. Not to attack any differing community or group or Nation.
4. Not to develop the tendency of hoarding more than the requirement of life,

5. Not to take wine or meat.
6. Even in defensive wars, not to kill the civilians of enemy side.
7. To curb the feeling of superiority and not to usurp any body's right.
8. Not to be immoral in anyway.

At the same time he laid certain do's to establish the desired Non-violent society.

1. To reorganize the present system of education. This system is developing reason and logic but not the character.
2. To give importance to good and giving people and not to bad and grabbers—Thereby even the "haves" class of the society will be led to respect the value of basic goodness.
3. To curb the desires and wants to the minimum In present social set up, there are unlimited riches and resources on the one hand and dire, want and hunger on the other hand. This creates enmity and friction and jealousy and consequent violence or violent state of mind.

To change all this Gnrudev Tulsi suggests that there should be a related change between the person, economics and society, then only can a healthy society be framed and a solution found to all or most of the problems

Non-Violence in Thought

Lord Mahavir has considered intellectual and mental violence worse than physical violence, because if a person kills a person he kills an individual but when a person kills an idea, he kills hundreds, even thousands indirectly.

He elucidates that to criticize some body wrongly to twist some body's thinking, to make false allegations, to character assassinate some body out of jealousy, and/or to give prominence to one's own thoughts or convictions only is intellectual violence. That is why non-violence never exists or be practised along with other negative emotion side by side. It is not possible. The reason for its expansion is because intellectual violence is not obvious, whereas the physical violence is.

Lord Mahavir tried to establish non-violence through Anekant (non-absolutism) because, while understanding self is essential, so is understanding others, Because knowing complete truth is not possible through that. Gurudev gave an example of this from an incident from his own life, Sometime around year 1962, an Anuvrat Seminar was held and a reputed lawyer of the place was called to participate in it. He presented certain queries and doubts about it,

to which the people objected. In the evening session he expressed his desire to apologise, when Gurudev Tulsi told him that why should he apologise, he was happy that some body at least had come to evaluate his saying critically. Hearing this the lawyer was overwhelmed and praised him for the calm, equanimity and grace to hear, listen and digest his opponents' view point.

Non-violent Resistance

Resistance can be violent or non-violent. Violent resistance is temporary whereas non-violent resistance is permanent. Lord Mahavir employed non-violent resistance against slavery, similarly Gandhiji used it as Satyagrah, which was quite successful. Summing up his life's experience he says, that non-violence can be of use to general masses, when it gathers the force of resistance-otherwise non-violence is without any force which cannot command respect in this age. And till the force to resist does not exist, man can not resist injustice. Commenting on the situation he says that if any wrong happens around you, your family, your neighbourhood and you don't resist it on the ground that it does not effect you, then it is a negative neutrality, which can be fatal to the very foundation of the concept. So developing your capacity to resist is essential.

Gurudev believes that humility and detachment are the basic pillars of non-violent protest. In his view no prejudice or egotism can persist long against an idea. Any partisan opposition itself is violence and non-violent opposition cannot succeed there. As regards character attributes of a non-violent protestor it, is his view that extra-ordinary courage is the imperative requirement of such a person. This calls for forbearance without which the man may lose his mental poise. If mind is not equilibrated, non-violent opposition has no sense. Therefore, ideological tolerance is an element, that is highly desirable.

A person dreading death or pain or swayed by the possibility of the same cannot stand up to violence and will surrender to it. Only those persons who are really courageous and dreadless can stand up to violence and aggression. Some people accept strikes, Gherao etc, as non-violent weapons to resist but Gurudev Tulsi disagrees with them, "because" says he, "it is correct that there is no violent weapon used in this, but this does not have a feeling of sacrifice also, so it cannot be non-violence. It is a way of overawing some body with the show of force and where the show of force is implied in what ever manner, it cannot be non-violence.

This means that to subdue injustice with injustice is a weakness

and similarly the acceptance of injustice is also a weakness. But Gurudev says that if something just is demanded, it should be acceded to, otherwise surrendering to force or a show of it is almost like killing of a principle. Violence can be defeated by goodwill, friendship, love, compassion, and use of force, compulsion or any sort of pressure, even if they may be non-violent cannot be truly called non-violence, some elements of violence are present in it. Non-violent resistance can succeed only with the spirit of sacrifice and absence of dread, because even violence itself cannot succeed unless some spirit of sacrifice is there. As wars are also won only when soldiers are ready to lay down their lives. Being a disciplined "Sadhak", Gurudev Tulsi has conducted various experiments of non-violent resistance. In religious conferences of Calcutta, where misunderstanding had reached climax, he in Jaipur during his Chaturmas started Ekasan Tap (a sort of partial hunger strike) and made it clear that "my vow for it is not for creating any pressure, because pressure of any kind is equivalent to violence. But if it does not produce change of heart, I will go upto still harder steps of penitence." With this non-violent resistance, a harmonious atmosphere of love and goodwill was created.

Ahimsa Sarvbhom

As a result of the devastation from 2nd world war, various international organisations grew up, such as UNO, Institute for Peace and Justice, International Peace Research Institute, Shanti Sena etc. In the same tradition Gurudev Tulsi started Ahimsa Sarvbhom under the Anuvrat Movement, thus creating a platform from which the voice of non-violence could be spread in all directions. Man was trying for peace and non-violence on one side and manufacturing and spreading destructive weapons on the other side. Gurudev Tulsi tried to break this impasse through the Ahimsa Sarvbhom Movement, which he considers a big revolution.

Mr. Janardan Rai Nagar of Rajasthan Vidyapeeth, Udaipur has appreciated this movement saying that in present day hard circumstance, it is essential that voice of non-violence should rise, joint conscience must awake to its need and Ahimsa Sarvbhom is full-filling that need. After Gandhiji, he has done a pioneers work in the field.

Addressing a working group of Ahimsa Sarvbhom and making clear its object, Gurudev Tulsi said that he was of firm belief that violence was an accepted feature of human society, it always had

been and always would be; but so was non-violence also. What was of concern was that the cult of non-violence was growing weaker. The realization and efforts should always be there that non-violence should never get weaker in comparison to forces of violence; And this work could not be done in an atmosphere of depression and despair. The work for this was to be done in a purposeful manner, with joy and faith and belief. This would be the first step towards the success of Ahimsa Sarvabhoom. He further said that the path of non-violence was like treading on the edge of the sword, not a path for a weak or coward.

Non-violence and Bravery

Some people consider that Ahimsa is a path of cowards, saying that Ahimsa of Jainism and Buddhism has made us coward. He rebuts it clearly saying that nothing is further from truth, they are antithesis to each other. A non-violent person can never be a coward and a coward can never be a follower of non-violence. Because it is never and nowhere said that you should not protect yourself. It is violence to terrorise any body and same way it is violence to be terrorised also. Those, who take recourse to non-violence to cover their cowardice are the forces, which weaken the process and movement of non-violence. And this factor has been the most potent in weakening the cult of non violence. In a parable it is like a rabbit telling a lion that he will not kill the lion because he was non-violent. He firmly says that cowardice can never be non-violence. When non-violence will give up the dread of death, that day will be the death of violence.

Democracy and Non-violence

In democracy, if the cult of non-violence gets out of the system, it will be a skeleton only. Which establishes the importance of non-violence in our present day world. And for this he proposes, that a non-violent group be constituted, which will not partake in politics, but will be providing guidance to it. He warns the politicians believing in the cult of violence, that they should get rid of the notion that violence, is the panacea for all ills, otherwise it can lead the society to disaster, because violence will get crueller and crueller if allowed to develop.

Democracy is a way of non-violence—as democracy and violence cannot live together and are directly opposed to each other. Gandhi has given us the concept of Ram Rajya—though it did not

succeed, but the concept has taken roots and cult and ism is born, which will gather more and more followers as violent times of today unfold themselves. Gurudev mentions the following attributes of a non-violent democracy :

- (i) Development of individual independence,
- (ii) Confirmation of human-oneness,
- (iii) Peaceful co-existence,
- (iv) Freedom from exploitation and creation of a moral society,
- (v) Establishment of international values,
- (vi) Joint efforts towards disarmament,
- (vii) Joining of all peace and friendship organisation.

Non-violence and War

History of devastations of war is ancient. It has always been there and will always be there. There can be no denial to it. According to researches done in the matter, during the period of 3600 years B.C. to present times. 14514 wars have been fought out and total period of peace during these 5600 years has hardly been 292 years and more than three billion people were killed in these wars.

In present times, the atomic weapons of destruction will make both the sides, winner as well as loser, destitutes and pay the price for centuries. In addition to killing millions, it will shatter billions mentally and morally and destroy the environment, the ultimate support systems of life. Scientists have already declared that in any atomic war of the future, the entire mankind will carry their burden of killing, destruction and incapacitation.

Gurudev Tulsi makes it more explicit that the war will destroy all the fruits of human endeavour, all growth in literature, art and science and the very fertility of the earth.

Going to the basic causes of wars he says that human smallness of mind, individual prides and egos, hunger for power and pelf, to feed the greed and avarice, finally some imbalanced mind goes in for it-but the final devastation is all-consuming.

Indian thinkers have given serious thought to the phenomena of war. During Indo-Pak war, Poet Ramdhari Singh Dinkar came to Gurudev and asked him, since he neither considered it good nor supported it, nor advise his followers to take part in it, so what did he say at this juncture of crisis for the country ? Gurudev gave a flat and firm reply that "though I do not support it, I cannot also run away from it-so we have to face it and he who shuns it or hides himself under the garb of non-violence during this national crisis is

a coward and in fact supporting violence and not being non-violent.”

The following comment of his on the subject also makes it all very clear and concrete. “A man lives in and is a part of the society, so he has a duty towards its security and ensuring its survival and he cannot shut his eyes from his duty towards it and where war is to be faced, it should be faced bravely, running away from it is not non-violence. It is simple and plain cowardice. Though at the same time destruction in war will be violence and cannot be termed non-violence. But during wars also, field of non-violence can be developed and worked by :

- (i) not becoming an aggressor,
- (ii) not killing an innocent,
- (iii) not be cruel to invalids,
- (iv) not to attack hospitals, religious places and educational institutions.
- (v) not to bombard population areas.

In regard to the question, whether non-violence could be a solution to war, he thinks that war problem can be solved and settled by non-violence and friendship because arms can never settle any problem, nor can they stop war, If one side gets weaker, it paves the ground for another war in future. But one thing that is forgotten in the process is that in ultimate analysis, after all the wars, settlement is always done by negotiations—so why not negotiate at the start. To resist attack and war through non-violence, Gurudev Tulsi says, three factors must be present :

- (i) There must be total absence of fear of death and terror,
- (ii) There must be discipline and love and complete trust in human oneness and
- (iii) There should be moral strength to never forgo to resist the injustice under any circumstances.

War may be inevitable in certain circumstances; still for war his suggestions were that even if victory in the war be definite, the war itself is not desirable, simply for the reason that even after the victory, there is no guarantee that the problem underlying the war would be solved.

Non-violence and World Peace

According to Gurudev Tulsi, peace is that state of happiness, which gives a sense of well-being of mind, holiness, euphoria to soul, a certain lightness. Today the whole of the world is in search of peace, but the proliferation of atomic weapons has put the very

existence of the world in danger. Approximately one crore forty lacs of rupees are being spent, every minute on weapons manufacturing in the world, even the manufacturers themselves are afraid of the very weapons, which they themselves manufacture. He asks the believers of atomic power, that normally it is said that all this is being done for maintaining peace, even wars are fought to maintain peace, when all the seeds of discord are there for the so-called "peace keeping", what could be more strange and illogical? Why is this not thought that if the same be present with their opponent, what would be the scenario then. His thinking about India is that this is basically a spiritual and non-violent country, not a country of atom bomb, but that does not mean that it should not have scientific development, bombs and weapons. But the difference is that in our culture, weapons are not principal factors. He further thinks that to establish peace and non-violence, it is essential to find out the causes leading to war and turmoil and violence. The main factors responsible for this are, fanatic nationalism, distinction of colour and race, conception of high and low, desire to extend our power, territory and influence and finally the rat race for weapons proliferation. These are the causes of all disputes and conflicts. And the biggest single factor creating conflicts is the extension of human desires limitlessly; and so the tendency not to desire what is due of others is the foundation of world peace.

He warns the people wishing to achieve peace through violent revolution, that plant of peace cannot come out of blood-soaked earth. Only through non-violent means can this ideal be achieved and nurtured. There is no higher scripture nor weapon than the cult and culture of non-violence. And only through non-violence and Anekant (non-absolute outlook) can materialise the dream and utopia of peaceful world.

Driven by this he presented the Anuvrat (small vows) programmes to mankind. It consists mainly of creating commitment towards basic human values. His efforts through this idea of total world peace is a unique experiment done in the world for the first time. Anuvrat has certain rules like :

- (i) I will not kill any innocent.
- (ii) I will not participate in any destructive activities.
- (iii) I will not attack anybody nor will support any aggressive act.
- (iv) I will always endeavour for world peace.
- (v) I will never spread communal or discriminatory feelings.
- (vi) There will be no untouchables.

(vii) There will be no discrimination on account of caste, colour, creed or sex. All will be equal.

Gurudev Tulsi's oldest message in his "Ashant Vishwa Ko Shanti Ka Sandesh" (Peace Message to the Peaceless world), which contains thirteen points after reading which Mahatma Gandhi had said that what a happy thing it would have been, if the whole world follows the path shown by this great man. A Korean visiting professor, on hearing Gurudev Tulsi's message of peace and Ahimsa (non-violence) and Anuvrat had said regretfully that they had no body there to give such a message. Had there been one, the world would not have passed through the devastations of the two world wars.

Disarmament

Whole of the world is in dread of the proliferation of the armament, especially the atomic ones and the voice to ban it is gathering momentum. Lord Mahavir had realized this and raised his voice against it 2500 years ago. He had said that what is needed is to cure the inclination of the man to manufacture arms. Gurudev Tulsi says that the arms in themselves are not so dangerous, as is the arms consciousness of the man himself. The arms conscious man is uncontrollable and becomes cruel and discriminates between man and man on one ground or the other. Also disarmament cannot be achieved by just cutting down on some missiles.

Even for balancing of power between nations, he does not approve of arms manufacture, because it not only means wasteful expenditure, but can also be a cause of misuse, if going into wrong hands. Nearly thirty-three years earlier his observation about this country was that let India be poor in missiles and bombs, as it is better that way and be free instead of having them and be in dread of consequences of having them and that our biggest asset was Ahimsa and till that was with us, we were safe, our security would be jeopardised only when our vital asset of Ahimsa would be lost.

His depth of feeling for a conflictless world is evident from his expression that the day atomic weapons will be banned completely, will be the day, when cruelty and tyranny of violence would be buried and that will be a day of achievement for the mankind, the day of fulfilment of his dream of a violence-free non-violent world. Humanity can survive only with a sense of tolerance and co-operation towards and with each other.

Non-violent Experiments :

"I do not have a blind faith in non-violence. This is a ray of light for me, with which I have tried to light my way of life, and I

am content with what I have found" says Gurudev Tulsi showing his multiphased experience in it. Even a person not believing in it, is influenced once he had a chance to come near him. There are various incidents when he had to pass through a violent atmosphere against his belief-but he wonned it over by his steadfastness. "A believer in non-violence cannot speak harshly even the truth itself, because harshness in any shape is violence." says Gurudev Tulsi. He further elucidates it, that this has taught him to remain disciplined and restrained under all circumstances. When reading reports of depredations of terrorists, in newspapers, he says, "I am minded to stand among them and ask them that who has given you the power to kill innocent people".

Communal Madness

After becoming Acharya (Head of his religious sect), his first Chaturmas was in Bikaner. After its ending on Margshirsh Krishan Pratipada (Nov. 11, 1937) he started moving from that place, but had gone only a short distance, when a procession of head of some other sect approached, without making any point of prestige, he gave way for them to pass. Though it was not liked by many followers, but the discipline of the sangh made them also to follow Gurudev. This was taken very well by the whole of the city. Even the sensible section of the otherside also felt about the sensibility of the manner in which Gurudev Tulsi handled it and were impressed by it. The then Maharaja Bikaner Sir Ganga Singh also observed that Gurudev (then acharya) may be younger in age, but he showed a mature intelligence.

Similarly in 1961, Gurudev was proceeding to Jasol via Baytu, Badmer (Rajasthan, India), when his opponents published very provocative pamphlets before his arrival, observing the state of mental turbulence of his own followers on this, he categorically advised them, that they have to rebut violence with peace; they have not come there to create conflict, it did not behove them to do so, they were on the path of non-violence and they would meet every difficulty put in their way by that; and the principle of "doing as the other does" might be a good political principle, but it certainly was not a religious weapon and they would not follow it, and so it was all done with very good results.

On every occasion of opposition to him, he would repeat "we have not to see what other person is doing, we have to do, what we should do, and meet violence with non-violence and peace.

His vision is so vast and open, that he finds a good in every

situation. He believes that as far as non-violence is concerned, our life should be other wordly, an example and this faith was actually lived by him, on every occasion.

In 1954, a conference on Anuvrat was held at Jodhpur. The people opposed it and had covered the whole city with posters including roads, on which Gurudev had to walk on. He simply said that the ignorant souls opposing us, have done us a good unknowingly. They saved our feet from the pain of heat, which otherwise the bare roads would have given us and gave a new slogan, "opposition to us should provide us pleasure". So wide a vision cannot be disturbed by any opposition and gradually all the enemy of opponents was turned to friendship.

There is an incident of Kanpur. The local papers had raised a slanging crusade against him. A local lawyer got upset on this and asked Gurudev that the editor of some paper was his tenant and he (Gurudev) may rebut it and he will get that printed. But Gurudev replied, that it was not worth the trouble; throwing a stone in a mud pond will get mud only in return, why to put in the effort? He further said that "I feel amused on the foolishness of my opponents, they provide me with further impetus to work still harder.

Opposition to child Initiation :

In Jaipur when there was opposition to it, Terapanthi also started feeling angry. Being an organised cult, thousands of followers started coming in and it was not an easy task to keep them calm. But Gurudev Tulsi again repeated his usual exhortions, "we have to meet opposition and anger and violence with non-violence and peace and self-restraint, because we believe not only on the achievement of the ends but also how to achieve it, to achieve it with pure and non-violent means. We have not to get excited by any obstruction." And so it was done and produced very desirable results.

Agni Pariksha Vs Ahimsak Pariksha

Once Gurudev Tulsi's Chaturmas was on in Raipur, where he was welcomed warmly. Some people becoming envious of his popularity, made an issue out of his book 'Agni pariksha' and challenged that he had abused Sita. Public got excited on hearing this, his effigies were burnt, and stone pelting took place. Seeing all this Gurudev spoke to pressed that he believed in non-violence and peace and if his publication had pained some people, he would keep that in view in its second edition. And that was the end of opposition. But the core element of opposition continued, on which he said that, for him, it was no question of prestige nor has it ever been, neither did he want to become a cause of friction, but at the same time if

somebody persisted in it he would continue exerting for peace, to the point of laying down his life, if the need arose. That he was not the first to be given this treatment; the same had happened with Lord Mahavir, Gandhiji and Vinobha Ji in the past. So, there was nothing new in this

The height of his compassion and non-violence was seen when some people were arrested by the police and he in his compassion pleaded with police for their immediate release. Again, once when his opponents burned his 'Pandal', he sat through all that calmly and quietly, without exhibiting any perturbation as Ahimsa was not for cowards. On people requesting him to leave the place, he replied firmly that he was sitting through the fire and commotion and would see what was going to happen; seeing this the arsonists were put to shame for their own act. During all this he kept exhorting his followers to be non-violent and peaceful.

A Liberal outlook

This is an acknowledged fact that only a liberal person can be non-violent. Without the liberality of mind one cannot tolerate any opposition. Gurudev Tulsi is an embodiment of open heartedness, the incidents of Mewad and Calcutta amply prove that. At Kanod village, where he was on move once with his followers, who were chanting usual slogans glorifying the path of non-violence, when they came to know, that a gathering of some monks of a different sect with their followers were holding a meeting on the path they were going on, he asked his followers to stop raising of slogans as he did not want the saints and their gathering to be disturbed by anybody. The argument was irrefutable. Slogan raising was stopped. The other side was impressed by this show of consideration. This was living non-violence.

In 1959, at the end of Calcutta chaturmas, a Journalist, who has written a lot of against Gurudev, approached Gurudev Tulsi and requested for his blessing. Gurudev replied that he had never entertained any ill feeling towards him, even when during the past four month-period, he had put all the vitriol and poison in his writings against Gurudev; wasn't that the blessing enough. That he was in his sadhana before his writings and continued in his sadhana after that also and he had nothing against him (the journalist). The journalist was touched and begged forgiveness for his conduct.

When Gurudev was on his Maharastra Yatra, Shivajee Bhave, younger brother of Vinobha Bhave came to meet him and explaining his purpose of coming said that a lot of published matter against

him having reached him, he wanted to see the person, against whom so much had been written and in return who, did not meet opposition with opposition, certainly he must be a person full of grit, determination and dedication.

Acharya Mahaprajna has said that the Janam Kundli of Gurudev Tulsī must be of struggle and fame, both being complementary to each other, struggle bringing fame and that in its turn bringing further struggle.

Once Gurudev was lecturing in Devas, when some ignorant persons threw stones at him, one such stone struck him at his back. He just watched and went on suffering the pain in silence and lecturing. Then next time on the way to Ujjain, some persons garlanded him he said that both stone and flowers had left him untouched.

In the words of Maha Sramani Sadhvi Pramukha Kanakprabhaji "he does not feel dejected with bad words nor gets elated with praise, and that is the state of a realised soul.

In the light of the above, non-violence of Gurudev gets imprinted on our minds and it can become a guiding beacon for all to follow the path of non-violence, love and friendship for which consciously or unconsciously, the whole world is hungering. May it be granted.

Translator—Dr. Anil Dhar
Asstt. Prof.

J.V.B. Institute
Ladnun

ACHARYA MAHAPRAJNA ON TRAINING IN NON-VIOLENCE

Non-violence is the key to life as it prevails in the Nature. It is par-excellence in the Religion also (अहिंसा परमो धर्मः). Pages and pages are abound in the glory of non-violence. It is a complete concept that can not be partialised in the terms of countries, cultures and times. But this way of life is not getting due attention with the needed strength, it is because of the fact that as is commonly observed, two thieves or dacoits can join in a joint venture, but not two saints or seers.

The present day organisation and concept of economy has turned the individual into hedonist. 'Earn a lot and enjoy yourself to the full'. More production, more acquisition, more gratification—these three have become the ruling maxims of life. Such an approach has made some people hedonistic, it has rendered others poor and miserable. The pleasure-seeking approach has really become a problem.

Some think that there is no violence in rich countries. It is a great illusion to think that non-violence bides with prosperity. Wealthiness may decrease violence born of destitution, but the material cause of violence is man's brain. Without changing the human intellect there is no possibility of establishing non-violence. Action follows thought, first an idea arises in the brain. Unless the brain is properly trained, the talk of non-violence society makes no sense.

Non-passessiveness and non-violence are spiritual values. Authenticity and honesty are moral values. These become established only with the adoption of the purity of means approach. In others words, it may be said that *Anakant* or the relative approach is the value of values. It is right vision, without it, right conduct is unimaginable. Therefore ground work of training in non-violence is the right vision, to establish non-violence without a change in one's out look is tantament to a man wanting to raise a crop without sowing the seed.

For sowing the seeds of non-violence training is a must. The seeds of non-violence is to be found in every man even so the seeds

of violence, which of the seeds sprouts would depend upon the factor present whether it is favourable to the growth of non-violence or violence. The principle of training in non-violence is to let the seeds of violence be dormant and to activate the seeds of non-violence. What is required is that the seeds of non-violence be sown and watered.

Origin of the Violence :

From the very beginning a child is conditioned by violence with in the family. He is naturally attracted by the prevailing acquisitiveness. He sees for himself that money rules every thing and that people fight among them selves for money. It is deeply embedded in his sub-conscious that one must possess money at all costs. He finds that a simple request for it fetches him no penny, but threats and a show of bellicosity do. So it is firmly impressed upon his mind that anger is indispensable. He meets with factors of violence in the family, also in the social environment. Similarly, study of history teaches the student 'Might is Right'. Without power you remain a non-entity. A student does not know in what direction he should utilize his energy.

Actually violence originates in the field of urges and passions. Later it establishes itself in the thought and then enters the sphere of conduct. Our instincts choose a medium to manifest themselves. Space, time and circumstance are the factors. If we examine closely, we shall find that a particular urge does not arise in the morning, it is aroused only in the evening. What does not arise at night is aroused in day-time. Each instinct is awakened in its own time. It is on this basis that the doctrine of the biological clock sets forth the time for performing particular activities. This constitutes the factor of time.

The relationship of one individual with another constitute society and the inner world of the individual constitutes his individuality, society is an extension thereof. So the individual with society as its experimental ground is the basis of violence. The starting point of training in non-violence is, therefore, a change of heart, i.e. a transformation of the brain cells. This change is matter-oriented, not directed towards violence. We are definitely of the view, says Acharya Mahaprajna, that apart from the question of non-possessiveness, there can not exist the problem of violence at all. Training in non-violence is direct training for the change of mental world, though it is indirectly related with the change of socio-economic political system.

Purification of the Self :

There are many experiments in progress in the field of non-violence. But in our view, these are not very practical, they merely serve as a basis for experimentation. The aim of training in non-violence is to involve the spirit of equality. For this the three values to be developed are non-possession, non-violence and non-absolutism. Only through this trinity can equality be established. Hence the above trio is the essence of non-violence training.

The starting point of training in non-violence is renunciation of ego i.e. training in self purification. The cause of inequality is egotism. We must impart training in dissolving egotism and seek to establish a corresponding economic order. The equalitarian approach would then be gradually strengthened. With the evolution of the equalitarian approach, inequality would gradually diminish.

The second point in the purification of the self is the refinement of the individualistic point of view. The principle underlying such refinement is interdependence. One man cannot live without another's cooperation. We are depend on one another. If one foot is advanced but the other foot remains stationary, there would be no progress.

The third element in purification of the self is training in the evolution of the spirit of renunciation. In general view the essence of life prevailing to-day lies in material development. It is hedonistic view point. This must be discarded. Material needs must be satisfied but renunciation is the very ornament of life and it should be practised

How a violent man can be transformed into non-violent. This requires two fold process—(1) disassociation of mind from old violent habits and (ii) formation of new habits. The training in non-violence requires a tolerant mind, if with patience we suggest our mind and body, it is sure to change our old habits and arouse new consciousness. The change becomes possible only when our attitude is changed. We are affected by so many wrong attitudes towards others. If this wrong attitude is removed and right attitude towards man, animals and nature is formed non-violence will succeed.

The change of mind or heart is not a random process. Transitory nature of things, feeling of [lovliness and acceptance of the principle of difference between body and the soul can develop this change. Acharya Mahaprajna opines that the process of the change of mind is very easy for the child and to some extent difficult for the adult but not impossible.

Fundamental Elements :

The fundamental element in the training for non-violence is therefore, change of heart or training of the brain. In order to bring about a transformation of the mind it is necessary to promote an understanding of the implications of various factors of violence as given below :

Factors of violence

1. Greed
2. Fear
3. Enmity
4. Anger
5. Egotism
6. Cruelty
7. Intolerance
8. Absolutist thinking
9. Absolutist Conduct

Results

- Spirit of possessiveness.
Development and use of armaments.
Spirit of revenge.
Conflicting Community life.
Hatred, Castism, untouchability malice born of colour discrimination.
Exploitation, murder.
Communal strife.
Pertinacious mentality, the mentality of denigrating other people's ideas.
Mentality of mutual non cooperation in community life.

All these emotions make a man violent. The transformation of the mind means the refinement of these passions and sowing in their stead, new seeds of conduct. Every man stands divided by mental and regional prejudices. Non-violence requires an undivided or wholly integrated personality. For fulfilment of this requirement it is necessary to make the training multidimensional. Acharya Mahaprajna offers four dimensional programme as under :

1. Change of mind or heart—हृदय-परिवर्तन
2. Change of attitude—दृष्टिकोण में परिवर्तन
3. Change of life style—जीवनशैली में परिवर्तन
4. Change of the system—व्यवस्था-परिवर्तन

The change of heart, consists of change in one's nature, development of will power and formation of new mentality. An attitude is formed by our taste and faith. If we have taste and faith in truth only then we can form our attitude towards truth.

Similarly the man oscillates between desires and emotions. He swings practical world on the one hand and emotional and sentimental on the other. So, he has to establish a balance between desires and actions.

Besides there are some objective world which causes violence in different context. These are imbalanced social, political, economic and educational systems. This demands a through change.

Acharya Mahaprajna beleives in the allround training in non-violence. He opines that we can develop some principles for the change of social system. His principles of the change are as follow.

1. Training for non-infatnation with the body and material objects.
2. Training for bearlessness and for fear anything to do or trading in armaments.
3. Training for friendliness and for freedom from the spirit of revenge.
4. Training for the spirit of forgiveness.
5. Training for politeness for non-egotism protest and for non cooperation with injustice.
6. Training for compassion.
7. Training for communal harmony and for toleration of different ideologies.
8. Training for relative thinking.
9. Training for interdependence.
10. Training for positive approach.
11. Training for the development of the spirit of giving away.
12. Training in non-accumulation.
13. Training in decentralized economic organisation.
14. Training for integrity in the earning of money.
15. Training for evolution of the spirit of equal distribution.
16. Training in regulating immediate carving for consumption and in limiting self-gratification. etc.

To sup up the above changes in individual are concerned with the removal of his mental tension, ideological differences, emotional imbalance and the imbalance of harmones. Similarly the change of social systems have importance in improving the non-violent social order.

May this our modest endeavour to impart training in non-violence provide a new direction. And thus may we advance on the path of establishing the value of non-violence. This is the ideal which Acharya Shri Mahaprajna envisages.

—Parameshwar Solanki
Editor
Tulsi Prajna
Ladnun—341306

Book Review

Pearls of Jaina Wisdom—A selection of inspiring Aphorisms from the Jaina Scriptures by Shri Dulichand Jain, Editors : Dr. Sagarmal Jain & Dr. Shri Prakash Pandey. Publishers : Parshvanath Vidya peeth, Varansi & Research Foundation for Jainology, Madras. First Edition, 1997. Price : Rs. 120.00.

Mr. Dulichand Jain is a strong religious person who believes in welfare of all humane. He thought it his duty to spread the value-based message of Lord Mahavir which opens the dimensions of non-violence, equality, universal brotherhood and compassion. With this objective he got published and distributed a book '*Jina vani ke Moti*' in 1993.

Afterwards he met Dr. Satyaranjan Banerjee, Dr. M. Narasimhachary, Dr. Jayantilal Jain, Shri R. Srinivasan, Shri P. Ramchandran, Dr. Sagarmal Jain and many others who encouraged him to invest vigorously and do spread the message of Lord Mahavir enthusiastically.

Dr. Banerjee provided the nucleus of the publication, Dr. Narasimhachary transliterated '*Jin vani ke Moti*'—the Aphorisms in Roman script and Smt. Priya Jain of Madras university translated them in to English.

An eminent journalist R. Srinivasan evaluated the translation and Dr. Sagarmal Jain with the help of Dr. Shri Prakash Pandey edited the bulk. It is not mentioned that who wrote the Part one i.e. *Jaina Agamic Literature, Life of Lord Mahavir and the Eternal message of Jaina wisdom*, of the book.

Mr. Dulichand Jain selected 72 works on Jainism, old and new, including 13 Jain Sutras and culled out of those books some six hundred and fifty Aphorisms. These aphorisms which he calls 'pearls of Jain wisdom' are enlisted under 71 headings of irregular classification.

Dr. Banerjee recognises this "Pearls of Jain wisdom a good contribution to the field of jainistic studies which is culled out nicely by a distinguished scholar of jainology' and in his opinion, this will act as a source book of jainistic studies."

Indeed, this is a good collection of Jain aphorisms about

Tulsi-Prajñā, Ladnun ; Vol. 23 No. 4

humane qualities and jainistic approach towards the life but these selected aphorisms do not inspire the reader. The collection is neither revealing the message thoroughly nor the wisdom of the selected aphorisms is unearthed. However the endeavours of the Research Foundation for Jainology will succeed and this volume may also fulfill the desire of the compiler.

Here I may be allowed to refer to a small book published in 1975, captioned, *One thought a day* (प्रतिदिन का एक विचार), based on thinkings of Lord Mahavir. This collect includes 365 aphorisms culled out of two Jaina Agams (250 from the uttaradhyana and 115 from the Dashavaikalika). One can read a single aphorism and meditate. This thought-provoking collection also have some nags (about 50 in number) but most of the aphorisms are worth penetration.

—Parameshwar Solanki

Registration Nos.

Postal Department : NUR-0
Registrar of News Papers for
India : R N.I No 28340/75

vol. XXIII

TULSI-PRAJÑĀ

1997-98

Annual Subs. Rs 60/-

Rs 20/-

Life Membership Rs. 600

प्रकाशक-संपादक : डॉ० परमेश्वर सोलंकी द्वारा जैन विश्व भारती प्रेस,
वाडनू (भारत)-३४१३०६ में मुद्रित कराके प्रकाशित किया गया ।